ओ३म्

व्याख्यासहित

वेदोपनिषत्

अथवा

...ोपनिषद-श्रुतिसंग्रहः

Rs 4 / P 50

संकलयिता एवं व्याख्याता

वे. श. श्रीमत्स्वामिवेदानन्द-(दयानन्द)तीर्थः

संस्थान के प्रमुख प्रकाशन

सांख्यदर्शन का इतिहास—सांख्यदर्शन के सम्बन्ध में फैली भ्रान्तियों का युक्ति-युक्त एवं प्रमाण सहित खण्डन, सांख्यदर्शन की प्राचीनता के साथ अनेक दार्शनिक एवं ऐतिहासिक विवेचन सहित। लेखक—श्री पं० उदयवीर जी शास्त्री को इस ग्रन्थ पर प्राप्त पुरस्कार—

१२००.०० रु० मंगलाप्रसाद पुरस्कार, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
१२००.०० रु० उत्तर प्रदेश सरकार।
१०००.०० रु० बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।
१०००.०० रु० सेठ हरजीमल डालमिया ट्रस्ट, नई दिल्ली।

बढ़िया जिल्द, मूल्य : ३०.०० रु०

सांख्यदर्शन विद्योदयभाष्य—भाष्यकार श्री पं० उदयवीरजी शास्त्री। विद्वान् भाष्यकार ने जीवन का पर्याप्त भाग लगाकर सांख्यशास्त्र का ऊहापोहपूर्वक मन्थन और विवेचन किया है, उसी के परिणामस्वरूप सहृदय विज्ञ पाठकों के सम्मुख यह भाष्य प्रस्तुत है।

अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान् श्री डां० वासुदेवशरण अग्रवाल की सम्मति—

"सांख्यदर्शन का विद्योदयभाष्य देखकर चित्त प्रसन्न हुआ। यह अत्यन्त स्पष्ट और विशद है। पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष की पृष्ठभूमि में सूत्रार्थ को समझाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया गया है। इस भाष्य के द्वारा सांख्यशास्त्र को समझने के लिए नया उत्साह प्राप्त होता है। 'ईश्वरासिद्धेः' सूत्र (१।९२) के मूल में सांख्य-दर्शन को ईश्वर की असिद्धि अभीष्ट नहीं थी, बल्कि ईश्वर के तथाविध उपादान-कारण होने का निराकरण अभिमत था, इस व्याख्या से सन्तोष हुआ।···आशा है, लेखक का दूसरा ग्रन्थ (सांख्यसिद्धान्त) भी गतिशील होगा।"

बढ़िया जिल्द, मूल्य : ८.०० रु०

विरजानन्द वैदिक संस्थान,
गाजियाबाद (उ० प्र०)

ओ३म्

वेदोपनिषत्सु

(औपनिषदश्रुतिसंग्रहे)

ब्रह्मोद्योपनिषत्

(प्रश्नोत्तरोपनिषत्)

वे. श. श्रीमत्स्वामिवेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ-
कृतया व्याख्यया सहिता

Rs 4 / P 50
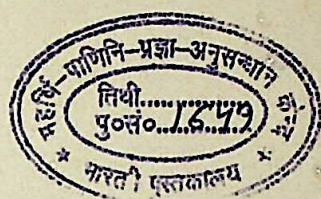
ऋषि-वाक्य

वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना पढ़ाना, और सुनना सुनाना सब आर्य्यों का परम धर्म्म है।
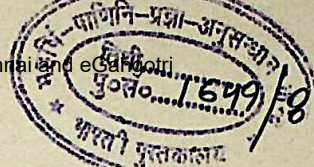
ओ३म्

श्रद्धास्पद पूज्यपाद योगिराज
परमहंस परिव्राजकवर्य्य
श्रीस्वामीविशुद्धानन्दसरस्वतीजी
के
चरण कमलों में
सादर
समर्पण

ओ३म्

प्रस्तावना

योगोपनिषत् को जनता के सामने रखते समय लेखक को उत्साह और संकोच दोनों ही घेरे हुए थे। उत्साह तो इस कारण था, कि लेखक एक ऐसी वस्तु जनता को भेंट करने लगा है, जो एक प्रकार से सर्वथा नई और मौलिक है। संकोच के कारण—लेखक में तदनुरूप योग्यता का अभाव, वैदिकधर्म्मप्रचार का दावा करने वाले आर्य्य-समाज का वेदादि से लापरवाह होना, तथा च जनसाधारण की परि-चित, प्रसिद्ध उपनिषदों से भिन्न नाम वाले ग्रन्थों का "उपनिषत्" नाम से प्रस्तुत होना इत्यादि अनेक थे। किन्तु आज संकोच नहीं है, प्रमुख विद्वानों ने "योगोपनिषत्" की प्रशंसा कर लेखक के उत्साह को बढ़ाया है, और कई गण्य मान्य पुरुषों ने मुझे इसी प्रकार की सारी उपनिषदें शीघ्र लिख डालने की प्रेरणा की है, उन सबकी प्रेरणा से मैं यह दूसरी "ब्रह्मोद्योपनिषत्" भेंट करने का साहस करने लगा हूं।

प्रस्तुत पुस्तक के दो नाम यहां दिए जा रहे हैं, पहला नाम ब्रह्मो-द्योपनिषत् और दूसरा प्रश्नोत्तरोपनिषत् है। इनमें पहला नाम अत्यन्त पुरातन है। आचार्य्य कात्यायन के समय इन मन्त्रों का यही नाम प्रचलित था, वे अपनी यजुर्वेदीय सर्वानुक्रमणिका में **"कास्विदष्टादशर्चं ब्रह्मोद्यम्"** लिखते हैं। अर्थात् "कास्विदेकाकी" (यजुः २३।४५) आदि १८ मन्त्र "ब्रह्मोद्य" नामक मन्त्र हैं। कई लोगों ने ब्रह्मा आदि ऋत्विजों के वार्त्तालाप की गन्ध इसमें देखी है, और इसी वास्ते इसका नाम "ब्रह्मोद्य" समझा है। किन्तु लेखक की विनम्र सम्मति में "ब्रह्म
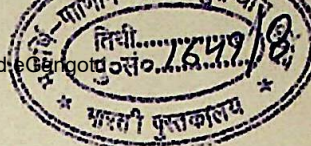
ज्ञानमुद्यते उच्यते अत्र इति ब्रह्मोद्यम्" (जिन मन्त्रो में ब्रह्म = ज्ञान कहा गया है, उन्हें ब्रह्मोद्य कहते हैं) निरुक्ति यथार्थ है। इन अठारह मन्त्रों से आगे तीन और हैं और तेईसवां अध्याय समाप्त हो जाता है। वे तीन मन्त्र भी ब्रह्मविद्या सम्बन्धी हैं, इसवास्ते उनको भी इनमें सम्मिलित कर लिया गया है। इस प्रकार कुल २१ मन्त्र इस उपनिषद् में हैं।

ब्रह्मोद्योपनिषत् का दूसरा नाम प्रश्नोत्तरोपनिषत् है। चूंकि इस उपनिषत् में प्रश्नोत्तर हैं, इस वास्ते इसका नाम प्रश्नोत्तरोपनिषत् भी साथ रख दिया है।

व्याख्या में स्थान २ पर मिलते जुलते उपनिषद्वाक्य भी अर्थ सहित दे दिए हैं, जिससे पाठकों को तुलना करने में सहूलियत हो। पाठक यदि वैदिक और आर्ष वचनों की तुलना गम्भीर दृष्टि से करेंगे, तो उन्हें भी वैदिकवचनों की अतिस्पष्टता, थोड़े से शब्दों में गहन विषय का सुन्दर निरूपण आदि विशेषताएं अनुभव होंगी।

लेखक को बहुत बार हैरानी हुई है, कि किस प्रकार और क्यों अतुलविद्या के भण्डार वेद के पठन पाठन का ह्रास हुआ। ऐसा प्रतीत होता है, कि भारतवर्ष में किसी समय ऐसा भयङ्कर और सर्वनाशक कोई राजनैतिक विप्लव हुआ है, जिससे वेदों का पढ़ना पढ़ाना पर्य्याप्त दीर्घ समय तक सर्वथा बन्द रहा, जिस प्रकार विशुद्ध बुद्धधर्म्म के ह्रास पर बौद्ध वाममार्ग (जिसे बौद्धों की परिभाषा में वज्रयान, सहजयान आदि कहते हैं) का उदय हुआ; इसी प्रकार शुद्ध वैदिकधर्म्म के ह्रास के दीर्घ काल पश्चात् जब फिर वैदिक धर्म्म के उत्थान के लिए लोग यत्नवान् हुए, तो समय के प्रभाव से वे लोग अपने आप को बचा न सके। अपितु उस समय के कुसंस्कारों से प्रभावित हुए उन्हीं संस्कारों का आरोप वेदों में होने लगा। यदि यह न होता, तो आचार्य्य सायण जैसा महाविद्वान् अनूचान क्यों ऐसे अनर्गल अर्थ वेद के मत्थे मढ़ता।

अत्यन्त दीर्घ काल के पश्चात् ऋषि दयानन्द ने फिर वेद को

उसका वास्तव पद "सर्वविद्याओंका भण्डार" कह कर दिया। ऋषि ने सब प्रकार के पूर्व ग्रहों से अपने मस्तिष्क को मुक्त करके वेद का अध्ययन किया, और वे इस परिणाम पर पहुंचे, कि "वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है"। ऋषि के इस सिद्धान्त के प्रमाण में लेखक "वेद में विद्याएं" नामक पुस्तक शीघ्र भेंट करेगा।

पाश्चात्य विद्वान् भी वेद के विश्वकर्मा, [ऋ० १०।८१-८२] वारुण, [ऋ० १।२४।६-१५॥२।२८॥५।८५॥७।८६॥८।४१] नासदीय [ऋ० १०।१२६] आदि सूक्तों को देखकर चकित हो रहे हैं। विकासवाद के प्रमुख आविष्कारक डा० वालेस ने वेदों के अनुवाद (यद्यपि वे पक्षपात पूर्ण और अशुद्ध थे) पढ़कर वौद्धिकविकास के सम्वन्ध में अपना मत बदल लिया था, अस्तु।

इस उपनिषत् में कुल मिलाकर ३२ प्रश्न हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. कः स्विद् एकाकी चरति ? कौन अकेला विचरता है ?
२. क उ स्विज्जायते पुनः ? कौन फिर फिर जन्म लेता है ?
३. किंस्विद् हिमस्य भेषजम् ? हिम (जड़ता—अज्ञान) की दवाई क्या है ?
४. किम् ॐ आवपनं महत् ? बीज वोने का बड़ा स्थान कौन सा है ?
५. किंस्वित् सूर्य्यसमं ज्योतिः ? सूर्य्य समान ज्योति कौन सी है ?
६. किं समुद्रसमं सरः ? समुद्र के समान तालाब कौन सा है ?
७. किंस्वित् पृथिव्यै वर्षीयः ? पृथिवी से बड़ा कौन है ?
८. कस्य मात्रा न विद्यते ? किस का नाप नहीं है ?
९. पृच्छामि त्वा चितये देवसख
यदि त्वमत्र मनसा जगन्थ।
येषु विष्णुस्त्रिषु पदेष्वेष्टस्
तेषु विश्वं भुवनमाविवेशाँ॥ — जिन तीन लोकों में भगवान् की पूजा की जाती है, उनमें भगवान् स्वयं व्यापक भी है या नहीं ?
१०. केष्वन्तः पुरुष आविवेश ? किनमें पुरुष प्रविष्ट है ?
११. कान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि ? कौन पुरुष में अर्पित हैं ?
१२. कास्विद् आसीत् पूर्वचित्तिः ? पूर्वचित्ति क्या है ?
१३. किं स्विद् आसीद् बृहद्वयः ? बृहद् वयः क्या है ?
१४. का स्विद् आसीत् पिलिप्पिला ? पिलिप्पिला क्या है ?

१५. कास्विद् आसीत् पिशंगिला ? पिशंगिला क्या है ?
१६. का ईम् अरे पिशंगिला ? और पिशंगिला क्या है ?
१७. का ईं कुरुपिशंगिला ? कुरुपिशंगिला क्या वस्तु है ?
१८. क ईम् आस्कन्दम् अर्षति ? आस्कन्द को कौन जाता है ?
१९. क ईं पन्थां विसर्पति ? मार्ग पर कौन जाता है ?
२०. कति अस्य (यज्ञस्य) विष्ठाः ? इस यज्ञ की कितनी विष्ठाएं हैं ?
२१. कति अस्य (यज्ञस्य) अक्षराणि ? इस यज्ञ के कितने अक्षर हैं ?
२२. कति यज्ञस्य होमासः ? यज्ञ के कितने होम हैं ?
२३. कतिधा (यज्ञः) समिद्धः ? यज्ञ कितने प्रकार प्रकाशित होता है ?
२४. कति होतारः (यज्ञे) ऋतुशो यजन्ति ? इस यज्ञमें कितने होता ऋत्वनुकूल यजन करते हैं ?
२५. कोऽस्य भुवनस्य वेद नाभिम् ? इस भुवन की नाभि को कौन जानता है ?
२६. को द्यावापृथिवीं अन्तरिक्षम् (वेद) ? द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष को कौन जानता है ?
२७. कः सूर्य्यस्य वेद बृहतो जनित्रम् ? महान् सूर्य्य के जनित्र को कौन जानता है ?
२८. को वेद चन्द्रमसं यतोजाः ? चन्द्रमा कहां से पैदा होता है ? इसे कौन जानता है ?
२९. पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः ? तुझसे पृथिवी का पर अन्त पूछता हूं।
३०. पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः ? तुझसे भुवनकी नाभि पूछता हूं।
३१. पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः ? तुझसे वृषा अश्व के रेत को पूंछता हूं।
३२. पृच्छामि वाचः परमं व्योम ? तुझसे वाणी के परम व्योम को पूछता हूं।

इन्हीं प्रश्नों का उत्तर देने के लिए इस उपनिषत् की प्रवृत्ति हुई है। उत्तरों में एक अपूर्व सौन्दर्य्य है, अलौकिक चमत्कार है। जितने

शब्दों में प्रश्न है, प्रायः उतने ही शब्दों में उत्तर है। कौशल यह कि उत्तर संक्षिप्त होने पर भी स्पष्ट और मनोहर है। आखिर परमप्रभु की वाणी है। भगवान् ने गंभीर अध्यात्मज्ञान के साथ प्रश्नोत्तरों की विधि भी सिखाई है।

प्रश्न १५ तथा १६ में कोई भेद प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार प्रश्न ३० भी प्रश्न २५ का पुनरुक्त प्रतीत होता है। प्रश्न २९ भी २५ और ३० जैसा प्रतीत होता है। किन्तु जब आप इनके उत्तरों पर विचार कीजिएगा, तो आप को प्रश्नों का भेद स्पष्ट ज्ञात हो जाएगा। परन्तु यह तभी संगत माना जा सकेगा, जब पिशंगिला आदि शब्दों को नानार्थक माना जाए। नानार्थक मानने के लिए अवयवार्थ अर्थात् यौगिक पद्धति के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं। कोई कह सकता है, कि रूढ़ शब्द भी नानार्थक होते हैं। ठीक है, होते हैं, किन्तु क्यों होते हैं ? यौगिक पक्ष स्वीकार करने में धातु प्रत्यय आदि अवयव हमारे सहायक हैं। भूलचूक शोधन में वे तथा प्रकरणादि सहायक हैं; किन्तु रूढ़पक्ष मानने से सहायता असंभव सी है। अतः यही मानना ठीक है, कि वैदिक शब्द यौगिक तथा योगरूढ़ी होते हैं। वेद का पूर्वोक्त निर्देश भी इस पक्ष का पोषक है। इसी रीति का अवलम्बन हमने इस व्याख्या में किया है।

पुस्तक कदाचित् शीघ्र न छप सकती, यदि श्री पं० नरदेव जी सि. शि. उद्योग न करते। तदर्थ उन्हें साधुवाद।

'योगोपनिषत्' के अन्त में हमने एक शब्द कोष दिया था, कई सज्जनों की सम्मति से इस उपनिषत् में हम ने वैसा कोष नहीं दिया।

अन्त में विद्वान् पाठकों से नम्र निवेदन है कि वे इस बिषय में अपने सत्परामर्श से लेखक को अवश्य अनुगृहीत करें। लेखक सर्वथा निर्मत्सर हो कर ग्राह्य परामर्शों को सादर सधन्यवाद स्वीकार करेगा। अलमति विस्तरेण।

ओं शम्। ब्रह्मार्पणमस्तु।

सकलमुमुक्षुजनसेवक

वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

ओ३म्

ब्रह्मोद्योपनिषत्

(यजुः । २३ । ४५—६५)

कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः ।
किं स्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत् ॥१॥
सूर्य्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः ।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ॥२॥
किं स्वित्सूर्यसमं ज्योतिः किं समुद्रसमं सरः ।
किं स्वित्पृथिव्यै वर्षीयः कस्य मात्रा न विद्यते ॥३॥
ब्रह्म सूर्य्यसमं ज्योतिर्द्यौः समुद्रसमं सरः ।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते ॥४॥
पृच्छामि त्वा चितये देवसख यदि त्वमत्र मनसा जगन्थ ।
येषुविष्णुस्त्रिषु पदेष्वेष्टस्तेषु विश्वं भुवनमाविवेशाँ ३ऽ॥५॥
अपि तेषु त्रिषु पदेष्वस्मि येषु विश्वं भुवनमाविवेश ।
सद्य पर्य्येमि पृथिवीमुत द्यामेकेनाङ्गेन दिवो अस्य पृष्ठम् ॥६॥
केष्वन्तः पुरुष आ विवेश कान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि ।
एतद्ब्रह्मन्नुप वल्हामसि त्वा किं स्विन्नःप्रतिवोचास्यत्र ॥७॥
पञ्चस्वन्तः पुरुष आ विवेश तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि ।
एतत्त्वात्र प्रतिमन्वानो अस्मि न मायया भवस्युत्तरो मत् ।८॥

कास्विदासीत्पूर्वचित्तिः किंस्विदासीद् बृहद् वयः ।
का स्विदासीत् पिलिप्पिला कास्विदासीत् पिशङ्गिला ॥९॥
द्यौरासीत् पूर्वचित्तिरश्व आसीद् बृहद् वयः ।
अविरासीत् पिलिप्पिला रात्रिरासीत् पिशङ्गिला ॥१०॥
का ईमरे पिशङ्गिला का ईं कुरुपिशङ्गिला ।
क ईमास्कन्दमर्षति क ईं पन्थां विसर्पति ॥११॥
अजारे पिशंगिला श्वावित् कुरुपिशंगिला ।
शश आस्कन्दमर्षत्यहिः पन्थां विसर्पति ॥१२॥
कत्यस्य विष्ठाःकत्यक्षराणि कति होमासः कतिधा समिद्धः ।
यज्ञस्य त्वा विदथा पृच्छमत्र कति होतार ऋतुशो
यजन्ति ॥१३॥
षडस्य विष्ठाः शतमक्षराण्यशीतिर्होमाः समिधो ह तिस्रः ।
यज्ञस्य ते विदथा प्रब्रवीमि सप्त होतार ऋतुशो
यजन्ति ॥१४॥
को अस्य वेद भुवनस्य नाभिं को द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम् ।
कः सूर्य्यस्य वेद बृहतो जनित्रं को वेद चन्द्रमसं
यतोजाः ॥१५॥
वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिं वेद द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम् ।
वेद सूर्य्यस्य बृहतो जनित्रमथो वेद चन्द्रमसं यतोजाः ॥१६॥
पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं
व्योम ॥१७॥
इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं
व्योम ॥१८॥

सुभूः स्वयंभूःप्रथमो ऽन्तर्महत्यर्णवे ।
दधे ह गर्भमृत्वियं यतो जातः प्रजापतिः ॥१९॥
होता यक्षत्प्रजापतिं सोमस्य महिम्नः ।
जुषतां पिबतु सोमं होतर्यज ॥२०॥
प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो
रयीणाम् ॥२१॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकेण वेदानन्देत्यन्वर्थापराभिधानेन श्रीमता दयानन्दतीर्थस्वामिना संकलितासु वेदोपनिषत्सु (औपनिषदश्रुतिसंग्रहे) यजुर्वेदीया ब्रह्मोद्योपनिषत्समाप्ता ॥

—०—

ओ३म्

अथ ब्रह्मोद्योपनिषत्

अथवा

प्रश्नोत्तरोपनिषत्

(यजु: २३।४५-६५)

प्र—कःस्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः ।
किंस्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत् ।।१।।

उ—सूर्य्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः ।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत् ।।२।।

प्रश्न—१. (कः+स्विद्) कौन सा (एकाकी) अकेला (चरति) विचरता है। २. और (कः+स्विद्) कौन सा (पुनः) फिर, बार बार (जायते) पैदा होता है। ३. (हिमस्य) सरदी की, जड़ता की, अज्ञान की (भेषजं) दवाई (किं+स्वित्) कौन सी हैं। ४. (किं+उ) कौन सा (महत्) वड़ा (आवपनं) वोने तथा काटनें का स्थान है ॥१॥

उत्तर-(१) (सूर्य्यः) सूर्य (एकाकी) अकेला (चरति) विचरता है। (२) (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (पुनः) फ़िर, बारबार (जायते) जन्म लेता है। (३) (अग्निः) आग; ज्ञान (हिमस्य) जड़ता आदि की (भेषजं) औषध है। (४) (भूमिः) भूमि (महत्) बड़ा (आवपनं) बीज बोने तथा काटनें का स्थान है।

पहले मन्त्र में चार प्रश्न किए गए हैं; दूसरे मन्त्र में उनका

समाधान है। इस वेदोपनिषत् के अन्तिम तीन मन्त्रों को छोड़कर शेष मन्त्रों में प्रायः यही क्रम है, कि पहले मन्त्र में प्रश्न हैं, अगले में उत्तर हैं। उत्तरों में सौन्दर्य्य यह है, कि वे भी प्रायः उतने शब्दों में हैं, जितने शब्दों में प्रश्न हैं। इन मन्त्रों की कई प्रकार की व्याख्या की-जा सकती है। तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार वैदिक संहिता की व्याख्या पांच प्रकार से की जा सकती है। यथा—

"अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः पंचस्वधिकरणेषु-अधिलोकम्, अधिज्योतिषम्, अधिविद्यम् अधिप्रजम्, अध्यात्मम्।" तै० उ० शीक्षावल्ली ३।१

अब यहां से संहिता (वेद) का रहस्य बताएंगे, वह पांच अधि-करणों में होता है, (क) पृथिवी आदि लोकों की दृष्टि से (ख) सूर्य्य चन्द्रादि ज्योतिर्मय पदार्थों को लक्ष्य करके (ग) चतुर्दश अथवा अष्टादश अथवा चौंसठ विद्याओं के विचार से (घ) प्रजननशास्त्र की मर्यादा से और (ङ) आत्मिक भाव से।' तैत्तिरीय ऋषि ने एक अन्य स्थान पर "अनन्ता वै वेदाः" इसी भाव से कहा है। अर्थात् वेद के अनन्त व्याख्यान हो सकते हैं। कालान्तर में उन्हीं व्याख्यानों को 'शाखा' का नाम दे दिया गया। व्याख्यान भिन्न होने पर भी एक दूसरे के विरोधी हों, यह आवश्यक नहीं। जो ऐसा मानता है, वह भिन्न और 'विपरीत' का अर्थ नहीं जानता। आंख और कान भिन्न भिन्न हैं। किन्तु कोई भी इन्हें विरोधी नहीं कह सकता। अस्तु।

यहां हम वेदों के मुख्यार्थ अध्यात्म के अनुसार व्याख्या करेंगे। (क) सूर्य्य शब्द के अनेक अर्थ हैं। उनमें से एक अर्थ जीवात्मा भी है। प्रश्न है, कौन अकेला विचरता है? 'अकेला' से अभिप्राय निस्संग है। जो इन्द्रियों आदि को चलाए, अपने नियम में—वश में रखे, उसका नाम सूर्य्य है। जब तक आत्मा इन्द्रियों को पूर्णतया वश में नहीं कर पाता, तब तक वह इन्द्रियासक्ति में फंसा है, अकेला नहीं है। किन्तु जब वह विषय में दोषदर्शन कर लेता है; जब वह विषयों के परिणाम आदि का विचार करके उन्हें दुःखरूप समझ कर त्याग देता है, तब

वह अकेला होता है। इन्द्रियों और शरीर के होते भी वह निस्संग होता है। जैसे सूर्य्य के समय चन्द्रादि सब ग्रह उपग्रह होते हैं। किन्तु सूर्य-प्रकाश के सामने उनका प्रकाश एवं प्रभाव सर्वथा लुप्त होता है, और सूर्य्य अकेला होता है। इसी प्रकार आत्मतेज से तेजस्वी महात्मा के तेज के कारण, जितेन्द्रियता के कारण, इन्द्रियादिक अपना कोई प्रभाव नहीं दिखा सकते। इस कारण 'सूर्य एकाकी चरति' कहा है।

जब तक मनुष्य अकेला नहीं होता उसे पूरी शान्ति नहीं मिलती, कोई गम्भीर विचार नहीं कर सकता। इसी वास्ते शान्तिके चाहने वाले घरबार को त्याग कर जंगल में डेरा जा लगाते हैं। गम्भीर विचार वाले भी जनसमूह से हटकर एकान्त स्थान का आश्रय लेते हैं। जो एकान्त सेवी होते हैं उनका तेज सर्वाभिभावी होता है, इसमें तो किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता।

(ख) सूर्य्य शब्द का अर्थ परमात्मा प्रसिद्ध ही है। वेद में कहा है-'सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' [य० ७।४२] जंगम और स्थावर चर और अचर इस समस्त जगत् के आत्मा=गतिदाता जीवनप्रदाता का नाम सूर्य्य है। परमात्मा अकेला है। इसमें तो किसी को सन्देह ही नहीं। जहां ममता हो; वहीं संग की भावना होती है, वह भगवान् परिग्रह से सर्वथा ऊंचा है। समस्त प्रकृति और उसके कार्य्यों अथवा सकल जीवों में व्यापक होता हुआ भी वह अकेला है, संग दोष से निर्मुक्त है। इस बात को कठ ऋषि ने भौतिक सूर्य्य के दृष्टान्त से समझाया है। ऋषि कहते हैं:—

सूर्य्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु–
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।।कठ०।।५।११।।

जैसे सूर्य्य सारे संसार की आंख है (पदार्थों के दर्शन कराने के कारण सूर्य्य को आंख कहना सर्वथा युक्त है), किन्तु बाहर के आंख

सम्बन्धी दोषों से लिप्त नहीं होता; इसी भांति सर्वभूतान्तरात्मा सब पदार्थों का आत्मा एक अद्वितीय परमात्मा भी संसार दुःख से लिप्त नहीं होता, इसी कारण वह 'वाह्य'=सब से बाहर है। परमात्मा का यही वैचित्र्य है, और यही उसके असंग होने का कारण है, कि वह सबके अन्दर भी है और बाहर भी है।

ऋषि श्वेताश्वतर जी ने परमात्मा के अकेलेपन के सम्बन्ध में क्या ही सुन्दर उपदेश किया है। देखिए:—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः,
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्म्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ श्वे.उ. ६।११॥

एक परमात्मा देव ही सब पदार्थों में छिपा हुआ है। वह सर्वव्यापी है और सब भूतों का अन्तरात्मा है। वही कर्म्मफल का देने वाला और सब पदार्थों का आश्रय है। सबका साक्षी चेतन केवल अकेला और निर्गुण है।

सर्वव्यापी और सर्वभूता तरात्मा में भेद है। एक पदार्थ व्यापक होता हुआ आवश्यक नहीं है कि वह उसका जीवनाधार भी हो। जैसे आकाश सब में है किन्तु जीवन तो आत्मा के आश्रय से है। इसी कारण 'सर्वव्यापी' कहकर भी सर्वभूतान्तरात्मा कहा।

ऋषि लोग ही वेद के गम्भीर आशय को समझ सकते हैं।

(२) अब दूसरे प्रश्नोत्तर की विवेचना करते हैं-चन्द्रमाः, चन्द्र दोनों पर्य्यायवाची=एक अर्थ वाले शब्द हैं। 'चन्द्र' का अर्थ आह्लाद=खुशी=मौज=आनन्द मनाने वाले। जो पुरुष इन्द्रियों के विषयों मैं सुख मानते हैं, उन्हें यहाँ 'चन्द्र' कहा गया है।

यह सब को ज्ञात है, कि इन्द्रियों में तथा उनके विषयों से एकान्त-सुख नहीं है। यदि इन्द्रियों या उनके विषयों में सुख होता, तो कोई भी उन का कभी भी त्याग न करता। किन्तु हम प्रतिदिन संसार में

निहारते हैं, कि इन्द्रियासक्त, विषयलोलुप लोग एक समय उन विषयों से ऊब जाते हैं, उन में दुःख का अनुभव करने लगते हैं। वास्तव बात यह है, कि विषयों में सुख का जो भान उन्हें हो रहा था, उसका कारण उस समय मन का सब ओर से हटकर उसमें लीन होना था। यदि मनका साथ सहयोग न हो, और सब विषयों से हटकर उस विषय में मन न लगे, तो कभी भी सुख की प्रतीति न हो। उदाहरणार्थ—एक पुरुष कोमल पुष्पशय्या में सुख अनुभव करता है, दैवयोग से उसे ज्वर आता है, तब उसे वही पुष्पशय्या (फूलों की सेज) दुख देती है। अब उसे उस से सुख नहीं मिलता। तब वह शरीर को सुखी करने के लिए किसी दूसरे साधन की तलाश करता है। फिर उस में विरसता होने पर तीसरे की खोज में लगता है। इस प्रकार विषय-वासना में भ्रम से, अज्ञान से सुख समझ कर वह इधर उधर चक्कर खाता है।

इसी प्रकार जीव मुक्ति के द्वार मानवदेह को प्राप्त करके यदि विषयवासना में फंस जाता है, तो वह जन्ममरण के चक्कर में फंस जाता है। जिस प्रकार चन्द्रमा में वृद्धि ह्रास, घटती बढ़ती लगी रहती है। ऐसे ही विषयानन्दी जीव भी ऊंची नीची योनियों में निरन्तर घूमता रहता है।

चन्द्रमा में प्रकाश सूर्य्य से आता है, दूसरे से प्रकाश आने के समय यदि मार्ग में कोई छोटी बड़ी रुकावट हो जाए, कोई परदा पड़ जाए, तो प्रकाश की मात्रा में भेद पड़ जाता है, चन्द्रमा को सूर्य्य से प्रकाश आते समय भूमि छाया के कारण प्रकाश की कलाओं में घटती बढ़ती होती है। इसी प्रकार जीव को पूर्ण ज्ञान तो परमात्मदेव से आता है। अज्ञान आदि से परमात्मा से मिलने वाले ज्ञानप्रकाश में त्रुटि हो जाती है। इस वास्ते जीव पदार्थों के गुणदोषों को ठीक नहीं समझ पाता, और उनमें फँस जाता है, फलतः आवागमन के फेर में पड़ता है। इसी भाव से जीव को यहां 'चन्द्र' कहा और इसी कारण "चन्द्रमा जायते पुनः" कहा।

विषयासक्ति में लिप्त लोग परलोक को भूल जाया करते हैं, और अतएव उसकी तरफ से बेपरवाह हो जाते हैं। ऐसों की अवश्य दुर्गति होती है। इस बात को बहुत ही हृदयग्राही शब्दों में यम ने नचिकेता से कहा है—

न सांपराय: प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको, नास्ति पर इति मानी पुन: पुनर्वशमापद्यते मे।।

कठ० २।६।।

वाल = अज्ञानी, आत्मानात्मा के विवेक से शून्य, प्रमादी, धन के मद से पागल पुरुष को यह सांपराय = आनी जानी दुनिया जीने मरने का चक्कर नहीं सूझता। यही लोक है, परलोक नहीं है, ऐसा मानने-वाला बार बार मौत के चंगुल में फंसता है।

'चन्द्रमा जायते पुन:' की कैसी अद्भुत व्याख्या है।

कठोपनिषद् में दूसरे स्थान पर बड़े गंभीर शब्दों में इस चन्द्रपन = विषयासक्ति का वर्णन किया है—

पराच: कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।

क० ४।२।।

अज्ञानी ही इन प्रत्यक्ष कामनाओं का अनुसरण करते हैं और अतएव वे मौत के फैले जाल में फंसते हैं।

क्योंकि कामनाओं का अन्त दुरन्त है।

फिर कहा है—

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह।
मृत्यो: स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति।।क०४।१०।।
मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्यो: स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति।।११।।

जो इस संसार या जन्म में है, वह अगले में, जो अगले में है, उसी के अनुसार फिर इस लोक में। वह तो मौत की मौत अर्थात् भयंकर दुरवस्था को पाता है, जो यहां भेद सा जानता है। यह मन से = मनन

से जाना जा सकता है, कि यहां भेद नहीं। वह मृत्यु की मृत्यु को प्राप्त होता है, जो भेद भान करता है।

अर्थात् जैसा अब करोगे, वैसा आगे भरोगे, इस में कोई भेद न आएगा। जो समझते हैं, अब जो चाहो कर लो, पीछे कौन किसको क्या फल देगा; उन को उपनिषत्कार सावधान कर रहे हैं।

(३) ज्ञानी मनुष्य के विचार उदार होते हैं, भाव विशाल होते हैं। ज्ञान की गरमी से उसके प्रत्येक सद्गुण में फैलाव आता है। फैलाना गरमी का स्वाभाविक गुण है। उसके विपरीत अज्ञानी संकुचित विचार, संकीर्ण आचार का होता है। मानो अज्ञान=जड़ता के हिम पाले ने उसे मार दिया है। अज्ञान की चिकित्सा ज्ञान है, जैसे सरदी का इलाज गरमी है। इसी भाव को लेकर तीसरा प्रश्नोत्तर है— "अग्निर्हिमस्य भेषजम्"। जाड़ा सत्ता रहा हो, आग का सेवन करो। अन्धकार छा रहा हो, अग्नि प्रकाशित करो।

मृतक का शरीर ठण्डा हो जाता है। हिम = जाड़ा मृत्यु का प्रतिनिधि है। अग्नि से जीवन आता है। अतएव वेद ने कहा—'अग्नि-र्हिमस्य भेषजम्।'

ज्ञान की जितनी भी महिमा की जाए, थोड़ी है। किन्तु अनन्त व्याख्यानों से वर्णनीय महिमा को कितने थोड़े से शब्दों में भगवान् ने वर्णन किया है।

(४) चौथा प्रश्नोत्तर 'भूमिरावपनं महत्' बहुत ही गंभीर है, किन्तु इतना स्पष्ट है, कि मूर्ख से मूर्ख इसे मानते हैं। चाहे परलोक के मानने वाले हों अथवा लोकायतिक नास्तिक हों, सबके मुंह पर यह वैदिक सत्य विराजमान है। इसमें इसी संसार को कर्मभूमि बताया गया है। भूमि का लोकप्रसिद्ध अर्थ 'ज़मीन' Land है। वेद में तो शब्दों का यौगिक अर्थ माना जाता है। भवति अस्मिन् इति भूमिः 'जिसमें रह कर जीवात्मा अपनी सत्ता का प्रकाश करता है, उसका नाम भूमि है। इस निरुक्ति के अनुसार शरीर भूमि है। वेद कहता है—यह

भूमि = यह मानव देह आत्मा का महान् आवपन = बीज बोने का = कर्म्म करने का स्थान है। इस देह के किए कर्म्मों के अनुसार उत्तम या अधम योनि मिलती है। इसी देह में किए कर्मों का फल एक ओर मुक्ति है, तो दूसरी ओर महान्धकारमय अवस्था है। इसी वास्ते उपनिषत्कार महर्षियों ने "इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः" (केन०) कहा। अर्थात् इस जन्म में यदि आत्मा—परमात्मा को जान लिया। तब तो भला है, यदि इस जन्म में न जाना, तो अनर्थ है।

महर्षि महीदास ऐतरेय ने इस मानवदेह की श्रेष्ठता को आलंकारिक मनोरंजक रीति से बखाना है—

'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, नान्यत् किंचन मिषत्। स ईक्षत 'लोकान्नु सृजा' इति ॥१॥ स इमांल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापो अदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठाऽन्तरिक्षं मरीचयः। पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः ॥२॥ स ईक्षत 'इमे नु लोकाः' लोकपालान्नु सृजा' इति। सोऽद्भ्यः एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत् ॥३॥ तमभ्यतपत्, तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डं, मुखाद्वाग्, वाचोऽग्निः। नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुः। अक्षिणी निरभिद्येताम् अक्षीभ्यां चक्षुः चक्षुष आदित्यः। कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशः। त्वङ् निरभिद्यत त्वचो लोमानि, लोमभ्य ओषधिवनस्पतयः। हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमाः। नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः। शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आपः ॥४॥ इति प्रथमः खण्डः ॥

'ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतन्, तमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत्, ता एनमब्रुवन् 'आयतनं नः

प्रजानोहि यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदाम' इति ॥११॥ ताभ्यो गामानयत्, ता अब्रुवन्-न वै नोऽयमलमिति ॥१२॥ ताभ्योऽश्वमानयत्, ता अब्रुवन्—न वै नोऽयमलमिति। ताभ्यः पुरुषमानयत्, ता अब्रुवन्-सुकृतं बतेति। पुरुषो वा सुकृतम्। (ऐतरेयोपनिषत्)

सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व यह जगत् आत्मरूप ही था, क्योंकि और कोई वस्तु हरकत न करती थी। आत्मा ने इच्छा की, कि लोकों की रचना करूं।, उसने इन लोकों को बनाया-अंभस्, मरीचि मर और अप्। जो द्यौ से परे है, उसे अंभस् कहते हैं। द्यौ का आधार अन्तरिक्ष 'मरीचि' कहाता है। पृथिवी 'मर' है। और जो नीचे है, उसे 'अप' कहते हैं। उस ने विचारा, 'यह लोक हैं, लोकपालों को बनाऊं।' उस ने 'अप्' से (पंचतन्मात्राओं से) निकाल कर पुरुष = विराट् देह की मूर्ति बनाई। उसको तपाया। तपने पर अण्डे की भांति उस का मुख फूट निकला = खुला। मुख से वाणी, वाणी से आग। नासिकाएं खुलीं। नासिकाओं से प्राण, प्राण से वायु। दोनों आंखें खुली, आंखों से चक्षु, और चक्षु से सूर्य्य। कान खुले, कानों से श्रोत्र और श्रोत्र से दिशाएं। त्वचा प्रकट हुई। त्वचा से लोम और लोमों से ओषधि-वनस्पतियां। हृदय बना, हृदय से मन और मन से चन्द्रमा। नाभि प्रकट हुई, नाभि से अपान, और अपान से मृत्यु। शिश्न खुला, शिश्न से वीर्य्य = बीज और बीज से जल ॥१॥ ये अग्नि आदि देवता रचे जाकर संसाररूप महासागर में गिरे। तब आत्माने इस पुरुष = विराट-को भूख और प्यास से युक्त किया। भूख प्यास से युक्त होकर उन देवों ने आत्मा से कहा, हमारे लिए कोई स्थान बताओ, जिसमें रह कर हम खाएं पिएं। वह आत्मा उनके लिए एक बैल लाया। उन्होंने कहा यह हमारे लिए काफ़ी नहीं है। फिर वह उनके लिए एक घोड़ा लाया, उन्होंने कहा, यह भी हमारे लिए शोभनीय नहीं है, तब वह उनके लिए पुरुष = मानव देह लाया। उन्हों ने कहा—हां, यह बहुत अच्छा है, निस्सन्देह पुरुष बहुत अच्छा बना है।

भाव यह है, कि प्रलयावस्था में प्रकृति समावस्था में होती है। प्रकृति अपनी मूलावस्था में तो इन्द्रियागोचर है, कार्य्य देख कर कारण का अनुमान करने से प्रकृति का अनुमान होता है, उस समय प्राकृतिक कार्य्यों के न होने तथा जीव के सुषुप्तिदशा में होने के कारण न तो अनुमान का विषय और न अनुमाता है। हां! परमात्मा सदा एक रस रहते हैं, उन में कभी कोई किसी प्रकार का विकार नहीं आता। प्रलयावस्था में भी उस की वही दशा वनी रहती है। इस वास्ते उपनिषत्कार महर्षि ने कहा—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, नान्यत्किंचन मिषत्'। और कोई गति न करता था। औरों का जीवों तथा प्रकृतिका-अभाव नहीं कहा, अपितु और कोई गतिमान् = चेष्टावान् न था, यह बात कही है। इस रहस्य को न समझ कर सांप्रदायिक लोगों ने सृष्टि से पूर्व प्रलयावस्था में जीवों तथा प्रकृति का अभाव वर्णन किया है, जो सर्वथा असंगत, युक्तिविरुद्ध तथा शास्त्र-प्रतिकूल है। अस्तु।

इस सन्दर्भ में 'पुरुष' शव्द दो अर्थों में आया है। आरम्भ में 'विराट्' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, आगे चल कर मानवदेह इस का अर्थ है।

"मुख फटा, उस से वाणी तथा वाणी से अग्नि" इत्यादि वाक्यों का तात्पर्य्य--इन्द्रियों के अधिष्ठान = गोलक, इन्द्रिय तथा इन्द्रिय के प्रतिनिधि का [जो शक्ति वाह्य जगत् में इन्द्रिय का स्थानापन्न है, जैसे आँख का सूर्य्य] वर्णन है।

'अम्भस, मरीचि, मर तथा अप्, शव्द यहां पारिभाषिक हैं, उन का अभिप्राय ऋषि ने स्वयं ही वता दिया है।

विराट् देह की रचना के पश्चात् व्यष्टि देहों की रचना का वर्णन है। प्रत्येक इन्द्रिय को भूख प्यास सताती है। अर्थात् उसको अपना विषय चाहिए। यह सव बतला कर पशु आदि की अपेक्षा मनुष्यदेह श्रेष्ठ है, इस का निरूपण करते हैं। पशु आदि में इन्द्रिय शक्तियों का पूर्ण तथा योग्य विकास नहीं हो सकता। इस वास्ते पशुओं में उत्तम घोड़े तथा बैल तक के शरीर को इन्द्रियां ना-पसंद करती हैं। जव

उनके सामने मानवदेह लाया जाता है, तो वे प्रसन्न हो उठती हैं। और कहती हैं—यह बहुत अच्छा बना है। पशु आदि बोल नहीं सकते, उन का मन भी इतना विकसित नहीं होता। आज तक किसी पशु नें कोई आविष्कार नहीं किया। पशु आदि प्राकृतिक बन्धन में बन्धे चलते हैं। मनुष्य प्रकृति से युद्ध कर उस पर विजय पाने का सदा से यत्न करता चला आ रहा है। उस ने तो बहुत हद तक प्रकृति को नग्न कर लिया है। उसके बहुत से भेद जान लिए हैं, इस वास्ते मानवदेह को उत्तम माना गया है। और यहीं मुक्ति के साधनों का अनुष्ठान संभव है। इसी वास्ते वेद नें कहा—भूमिरावपनं महत्'।

इन चार प्रश्नोत्तरों में एक विशेष क्रम है, जिस का नाम अवरोह-क्रम है। साधन के द्वारा साध्य के वर्णन में आरोहक्रम (ऊपर चढ़ना) होता है। किन्तु कभी कभी साध्य अथवा उत्कृष्ट का वर्णन किया जाता है। पश्चात् साधनों या अपकृष्ट का वर्णन किया जाता है, वह अवरोह क्रम (नीचे उतरना) कहाता है। यहां जीव की सर्वोत्कृष्ट अवस्था का वर्णन पहले किया है। उस से पीछे हीन अवस्था-भोग की अवस्था-चन्द्रदशा का निरूपण किया गया है। इस के पश्चात् सूर्य्या-वस्था की प्राप्ति का साधन बताया गया है। उस साधन = ज्ञान का अर्जन अथवा भली बुरी अवस्था का अर्जन कहां हो सकता है। इस का उल्लेख चौथे प्रश्नोत्तर में है। अर्थात् आरोहक्रम से कहें, तो इस प्रकार कहना होगा, कि इस उत्तम मानव देह में, मनुष्यतनु में सत्कर्म्मों का अभ्यास करो, ज्ञान का अर्जन करो, उस से अज्ञान दूर होगा। अज्ञान की दशा में दुःखपरिणामी भोग मिलेंगे। ज्ञान की परिपक्व अवस्था में सूर्य्यावस्था मिलेगी। सूर्य जिस प्रकार सारे सौरमण्डल को घुमाता है, वैसे मनुष्य में भी अपने संसर्ग में आने वालों को सन्मार्ग पर इच्छानुसार चलाने की अलौकिक शक्ति आ जाती है।

प्र—किंस्वित्सूर्य्यसमं ज्योतिः किं समुद्रसमं सरः।
किंस्वित्पृथिव्यै वर्षीयः कस्य मात्रा न विद्यते ॥३॥

उ—ब्रह्म सूर्य्यसमं ज्योतिर्द्यौः समुद्रसमꣳसरः ।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते ।।४।।

(५-८) प्रश्न—(सूर्य्यसमं) सूर्य्य के समान (ज्योतिः) ज्योति (किं+स्वित्) कौन सी है। (समुद्रसमं) समुद्र के तुल्य (सरः) सर = तालाव (किं+स्वित्) कौनसा है। (पृथिव्यै) पृथिवी से (किं+स्वित्) क्या वस्तु (वर्षीयः) बड़ी है। (कस्य) किस का (मात्रा) परिणाम (न) नहीं (विद्यते) है।

उत्तर—(ब्रह्म) ब्रह्म (सूर्य्यसमं) सूर्य्य के समान (ज्योतिः) ज्योति है। (द्यौः) द्यौ (समुद्रसमं) समुद्र के सदृश। (सरः) तालाव = जलाशय है। (इन्द्रः) इन्द्र (पृथिव्यै) पृथिवी से (वर्षीयान्) बड़ा है। और (गोः) गौ = वाणी का (तु) तो (मात्रा) परिमाण = हद (न) नहीं (विद्यते) है।

(५) यहाँ भी पहले मन्त्र में चार प्रश्न और दूसरे में उनके उत्तर हैं। हमारे इस सौर ब्रह्माण्ड में सब से अधिक प्रकाशवान् सूर्य्य है। सूर्य्य के प्रकाश के सामने चन्द्र तारे नक्षत्र आदि सब मन्द पड़ जाते हैं। आत्मिक जगत् में इसी प्रकार ब्रह्म = सर्वतो महान् भगवान् ही बलवान् एवं प्रकाशमान् है। समझाने के लिए ही सूर्य्य से उपमा दी गई है। वास्तव में सूर्य्यकी भगवान् से क्या समता? देखिए, उपनिषत्कार महर्षि क्या ही सुन्दर कहते हैं—

न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।। मुण्डक २।२।१०।।

वहां न सूर्य्य चमकता है, न चान्द और न तारे, नाही यह बिजलिएं चमकती हैं, यह भौतिक अग्नि तो भला कैसे चमक सकती है। उसके प्रकाश के अनुसार सब का प्रकाश होता है। उसकी चमक से, प्रकाश से यह सारा जगत् प्रकाशित होता है।

अर्थात् ब्रह्म स्वतः प्रकाश है। सूर्य्यादि के आलोक से वह आलो-

कित नहीं होता। सूर्य्यादि का प्रकाश उसके सामने मन्द पड़ जाता है। वास्तव में तो सूर्य्यादि में उसी का प्रकाश है। तभी मुण्डकोपनिषत् में कहा है—

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥

मुण्डक २।२।६॥

ज्योतिर्मय श्रेष्ठ आत्मकोष में मलादिदोषरहित कलादि से शून्य ब्रह्म विराजमान है। वह शुभ्र=स्वच्छ निर्मल है, वह ज्योतियों की ज्योति है जिसे आत्मवेत्ता लोग जानते हैं।

मुण्डकोपनिषत् के द्वितीय मुण्डक का द्वितीय खण्ड ब्रह्म और उसकी प्राप्ति का सुन्दर वर्णन करता है। अतः उसे हम अर्थ सहित दे देते हैं:—

आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत् समर्पितम्।
एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परंविज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम्॥१॥

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु यस्मिन् लोका निहिता लोकिनश्च।
तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः। तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि॥२॥

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा निशितं सन्धीयत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥३॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥४॥

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः।

स एषो अन्तश्चरते बहुधा जायमानः ।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं ।
स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥६॥
यःसर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि ।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥
मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति॥७॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥८॥
ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोद्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥११॥

वह आविः=प्रकट है, सत्=त्रिकालाबाधित=सदा एक रस रहने वाला है। निहित=समीप है। हृदय गुफा में जाना जाता है। नमस्कार करने योग्य और प्रसिद्ध है। महान् है; प्राप्तव्य है, यह जो गति करता है, जो सांस लेता है, जो चेष्टा करता है, जिसको तुम जान रहे हो, यह सब उसी में समाया है। संत् और असत् से उत्तम है, अतः वह वरिष्ठ है, प्रजाओं के ज्ञान से वह परे है ॥१॥ जो प्रकाशवान् जो अणु=सूक्ष्मों से सूक्ष्म है। जिसमें लोक और जीव रहते हैं। वही अविनाशी ब्रह्म है, वही प्राण है, वही वाणी और मन है। वह सत्य है और अमृत है। हे सौम्य ! इसी को निशाना=लक्ष्य समझ। बड़े अस्त्रों वाले औपनिषद=ब्रह्मविद्या रूपी धनुष को लेकर उपासना से तेज किया तीर उसमें जोड़ो। ब्रह्मभाव में लीन चित्त से खींच कर हे सौम्य ! उसी अक्षर लक्ष्य को वेध कर ॥३॥ प्रणव धनु=कमान है, आत्मा ही तीर है, ब्रह्म उसका लक्ष्य=निशाना है। अप्रमादी=पूर्ण सावधान पुरुष ही उसे खींच सकता है। उपासक तीर चलाने वाले की भांति तन्मय हो जाए ॥४॥ जिसमें द्यौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष ओत प्रोत हैं। सब प्राणों (इन्द्रियों) के साथ मन भी जिसमें

पिरोया है। उसी एक आत्मा=परमात्मा को जानो, बाकी बातें छोड़ दो, यही अमृत=मोक्ष का सेतु=पुल=प्राप्ति का साधन है ॥५॥ रथ की नाभि=धुरे में अरों की भांति जिस हृदयदेश में सब नाड़ियां आश्रित हैं, यह अनेक प्रकार से प्रकट होने वाला परमात्मा उसी हृदय देश के भीतर विचरता है। उस परमात्मा का 'ओम्' इस प्रकार से ध्यान करो। अन्धकार से पार होने के लिए यह 'ओम्' का ध्यान तुम्हारा कल्याणकारी हो ॥६॥ जो सर्वज्ञ है, जो सर्ववित्=सर्वत्र व्याप्त है, यह दृश्यमान जगत् जिसकी महिमा है। दिव्य ब्रह्मपुर हृदयाकाश में यह आत्मा प्रतिष्ठित है। अन्न=भोग के निमित्त उसी हृदय के समीप मनोमय, प्राणों और शरीर का आत्मा रहता है। ध्यानी लोग उस मनोमय प्राणशरीर नेता आत्मा के विज्ञान से उस आनन्दरूप अमृत के दर्शन करते हैं, जो सदा चमकता है ॥७॥ उस परावर ब्रह्म के दर्शन करने पर हृदय की गांठ खुल जाती है। सब संशय कट जाते हैं, और इसके कर्म क्षीण=दुर्बल हो जाते हैं ॥८॥ यही अविनाशी ब्रह्म सामने है। ब्रह्म ही पीछे है। ब्रह्म ही दक्षिण और उत्तर में है। ऊपर नीचे सर्वत्र इस ब्रह्म का ही प्रसार है, अतएव यह विश्व और वरिष्ठ है ॥११॥

नवम और दशम श्लोक पहले दे चुके हैं, इस वास्ते वे यहां पुनः नहीं दिए। कितना सुन्दर निरूपण है। परमात्मा का लक्षण करके उसकी प्राप्ति का उपाय 'ओम्' के द्वारा ध्यान को बताया है। न कि राम आदि नामों को। यजुर्वेद [२।१३] में भी 'ओम् प्रतिष्ठ' कहा है। ध्यान के लिए तन्मयता की आवश्यकता जताने के लिए कितने सुन्दर दृष्टान्त का उपयोग किया है। जिस प्रकार तीर निशाने में जाकर लग जाता है, उसी प्रकार आत्मा रूपी तीर को ब्रह्मरूपी लक्ष्य में लगाओ। परमात्मा का ज्ञान आत्मज्ञान के विना हो नहीं सकता ! इस वास्ते सातवें श्लोक में 'तद्विज्ञानेन' कहा।

मूल वेदवाक्य 'ब्रह्म सूर्य्यसमं ज्योतिः' में एक और उत्तम रहस्य है। योगदर्शन में "भुवनज्ञानं सूर्य्ये संयमात्" [३।२६] सूर्य्य में संयम

करने से=धारणा ध्यान समाधि करने से भुवन=लोकों का ज्ञान होता है। क्योंकि सूर्य्य अपने मण्डलवर्ति लोकों को आकर्षण से अपने वश में रखता है। इसी प्रकार सब संसार के आदि कारण ब्रह्म के ज्ञान से सब का ज्ञान हो जाएगा, उपनिषद् [मु० २।२।५] में 'तमेवैकं जानथ आत्मान मन्या वाचो विमुञ्चथ' इसी भाव से कहा है। इस बात को दूसरी उपनिषदों में भी कहा गया है। अतएव जिज्ञासु को, तत्त्वज्ञान के अभिलाषी को चाहिए, कि वह सब कुछ छोड़कर ब्रह्म-ज्ञान के अनुसन्धान में लग जाए। तब सब कुछ ज्ञात हो जाएगा। ब्रह्म का एक अर्थ 'ज्ञान' भी होता है। (ब्रह्म शब्द के अर्थों के लिए देखो हमारी लिखी 'योगोपनिषत्' का परिशिष्ट 'ख') संसार में ज्ञान से बढ़ कर भला कौन प्रकाश हो सकता है। ज्ञान के द्वारा ही भले बुरे का विवेक होता है। ज्ञान के सहारे ही सारे संसार के व्यव-हार चलते है, अतएव सूर्य्य के साथ इसकी उपमा सर्वथा संगत है।

अब दूसरे प्रश्नोत्तर को लीजिए—

(६) प्रश्न है "किं समुद्रसमं सरः" समुद्र के समान तालाब कौनसा है। उत्तर है—"द्यौः समुद्रसमं सरः" द्यौ समुद्र के समान सर=तालाब है।

आधिदैविक पक्ष में द्यौ का अर्थ द्युलोक अथवा अन्तरिक्ष स्थान किया जाता है। किन्तु हमें तो वेद के आध्यात्मिकभाव की खोज करनी है, अतः हमें वेद के शब्दों की गहराई तक जाना होगा। तब जाकर कहीं वेद के वास्तविक मुख्य अर्थ की झलक पा सकेंगे। पूर्ण अर्थ तो योग दृष्टि से आर्य दृष्टि के द्वारा जानना संभव है। जब तक वह दृष्टि हमें प्राप्त न हो, तब तक शब्दशास्त्र के सहारे रहस्य को जानने का यत्न करना चाहिए, इसके लगातार तथा श्रद्धापूर्वक अभ्यास से दिव्य दृष्टि मिलने की संभावना होती है। योगदर्शन [२।४४] में कहा भी है—'स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः' स्वाध्याय से इष्ट=अभीष्ट=मनोवांछित देवता का मेल होता है। अस्तु। 'समुद्र' शब्द की निरुक्ति करते हुए यास्काचार्य्य जी लिखते हैं—

"समुद्द्रवन्त्यस्मादापः समभिद्रवन्त्येनमापः ।" [नि०२।१०।२]

'जिस से जल दौड़ कर निकलें।' अथवा 'जिस में जल दौड़ कर जाएं।' निरुक्ताचार्य्य के सामने पार्थिव समुद्र तथा अन्तरिक्षस्थ सागर है। भूमिस्थ समुद्र की तरफ़ नदियों का पानी दौड़ कर जा रहा है, अन्तरिक्षस्थ समुद्र से वृष्टि के द्वारा जल दौड़ कर आ रहा है। समुद्र शब्द से दोनों सागरों का बोध हो जाता है। समुद्र का ठीक ठीक यौगिक अर्थ तो 'समुद्द्रवन्ति अस्मात् एनं वा' है,। 'आपः' शब्द का अध्याहार तो यास्क जी ने समझाने के लिए किया है। आपः पद को हटा दिया जाए, तो 'समुद्र' शब्द का अर्थ मन या हृदय भी हो जाता है। हृदय से भावों की उत्पत्ति होकर कर्मेन्द्रियों द्वारा उनका बाहर प्रकाश हो जाता है। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ज्ञान धाराएं अन्दर हृदय की ओर दौड़ रही हैं। इस प्रकार 'समुद्र' का अर्थ हृदय या मन करना सर्वथा युक्तियुक्त और शास्त्रसंगत है। लेकिन भगवान् नें संसारी जीवों को समझाने के लिए यहां समुद्र शब्द का प्रयोग निरुक्तकार=ऋषिकृत अर्थों में किया है। समुद्र विशालता का प्रतिनिधि है। हम अल्पज्ञों को समुद्र बहुत विशाल दीखता है। इससे प्रश्न का अर्थ हुआ "समुद्र या अन्तरिक्ष के तुल्य विशाल सर=तालाब कौन सा है" उत्तर है--"द्यौः—" द्यौः का अर्थ यहां मन है। वेद ने यहाँ मन, चित्त आदि शब्दों का प्रयोग न कर 'द्यौः' का प्रयोग एक विशेष कारण से किया है। मन समुद्र तो क्या उससे भी विशाल होता है; लेकिन किसी किसी का मन परमाणु से अधिक क्षुद्र होता है। वेद बतलाता है—'द्यौ--मन' समुद्र के समान विशाल सर है। द्यौ को साधारणतया तृतीय लोक; समझा जाता है; जहां सूर्य्य चन्द्र आदि प्रकाशमय पदार्थ रहते हैं। मन को 'द्यौ' कहकर वेदज्ञानालोक से आलोकित, आत्मविद्या के प्रकाश से प्रकाशमान मनको समुद्र के सदृश तालाब बतला रहे हैं। आत्मा परमात्मा के साक्षात्कार करने के लिए अन्तःकरण के शुद्ध करंने की अत्यन्त आवश्यकता है। ब्रह्म अनन्त है, उसका दर्शन संकीर्ण ईर्ष्या, द्वेष, राग, मत्सर आदि दोषों से दूषित

अन्तःकरण से कैसे होगा। अतः मन को द्यौ के समान विशाल बनाने की आवश्यकता है। जिस प्रकार द्युलोक में अनेक सूर्य्यादि प्रकाशमान पदार्थ हैं। इसी प्रकार शुद्ध मन भी अनेक विद्याओं का आयतन हो जाता है। यजुर्वेद [अ.३४। मन्त्र ५] में क्या ही सुन्दर कहा हैः—

यस्मिन्नृचः सामयजूँषि यस्मिन्
प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तँसर्वमोतं प्रजानां
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

जिस प्रकार रथ की नाभि-धुरे में सारे अरे लगे रहते हैं, उसी प्रकार जिस मन में सब वेद और प्राणियों का सम्पूर्ण ज्ञान समाया है, वह मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो।

क्या मलिन मन में यह शक्ति आ सकती है ? कभी भी नहीं। शिवसंकल्प मन, वेदविज्ञान का आधार तथा भण्डार है। मन को ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, प्रेम आदि नाना सद्गुण सूर्य्यो से प्रकाशमान होने के कारण द्यौ से उपमा दी गई है। कितनी भावभरी तथा रहस्यमयी उपमा है।

यह मनोमहिमा--हृदय की द्यौ से उपमा हमारी कपोलकल्पित नहीं है; छान्दोग्यउपनिषत् में इस उपमा को खोलकर वर्णन किया गया है। छान्दोग्योपनिषत् के तृतीय अध्याय के १३ वें खण्ड में हृदय को बाह्याकाश के रूप में वर्णन करके ऋषि कहते हैंः—

'तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः, स योऽस्य प्राङ् सुषिः स प्राणः तच्चक्षुः, स आदित्यस्तत्तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत। तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥१॥ अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रं स चन्द्रमाः, तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत। श्रीमान् यशस्वी भवति य एवं वेद ॥२॥ अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः, सोऽपानः, सा वाक् सोऽग्निः, तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत। ब्रह्मवर्च-

स्व्यन्नादो भवति य एवं वेद ।।३।। अथ योऽस्योदङ् सुषिः स समानः, तन्मनः स पर्जन्यः, तदेतत्कीर्त्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत। कीर्तिमान् व्युष्टिमान् भवति य एवं वेद ।।४।। अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाशः, तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीत। ओजस्वी महस्वान् भवति य एवं वेद ।।५।। (छां. उप.; ३ अध्याय, १३ खण्ड)

पूर्वोक्त इस प्रसिद्ध हृदय के पांच देव = इन्द्रियां हैं, जो इसकी पूर्व सुषि = गोलक है, वह प्राण है, वह चक्षु है, वह आदित्य है। तो इस तेज की अन्नाद्य समझ कर उपासना करे, और जो इसे ऐसा समझे, वह तेजस्वी तथा अन्नाद हो जाता है। और जो इस की दक्षिण सुषि है, वह व्यान है, वह चन्द्रमा है। तो इस को श्री और यश समझ कर उपासना करे। जो इस बात को समझता है, वह श्रीमान् और यशस्वी हो जाता है। और जो इसी की प्रत्यङ् = पश्चिम सुषि है, वह अपान है, वह वाणी है, वह अग्नि है, इसको ब्रह्मवर्चस और अन्नाद्य समझे। जो ऐसा जानता है, वह ब्रह्मवर्चसी तथा अन्नाद हो जाता है। और जो इस की उत्तर सुषि है, वह समान है, वह मन है, वह पर्जन्य = बादल है। इसको कीर्त्ति और व्युष्टि जान कर उपासना करे। जो इस को जान लेता है, वह कीर्तिमान् तथा व्युष्टिमान् होता है। और जो इस की ऊपर की सुषि है, उदान है, वह वायु है, वह आकाश है, इस को ओज और महः समझ कर उपासे। जो इस का समझ लेता है, वह ओजस्वी तथा महस्वान् = पूज्य बन जाता है।

थोड़ा सा विचार करने से ही स्पष्ट हो जाता है, कि उपनिषत्कार हृदय में पांच प्राणों, तथा पांच ज्ञानेन्द्रियों के साथ सूर्य्य, चन्द्र, बादल, वायु, और आकाश का ठिकाना बता रहे हैं। बात भी सच है। इन सब की अनुभूति हृदय से ही तो होती है।

एक और कारण से भी हृदय को द्यौः कहना ठीक है। परम

प्रकाशमान्, प्रकाशकों के प्रकाशक परमात्मा तथा ज्योतिस्वरूप जीवात्मा का हृदय में निवास है, वहीं इन का साक्षात्कार होता है। देखिए—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।।

कठ २।१२

उस कठिनता से दर्शनीय, गूढ, सब में अनुप्रविष्ट, हृदय में पड़े हुए आत्मगह्वर में रहने वाले, सब से पुरातन भगवान् का अध्यात्मयोग की प्राप्ति के द्वारा मनन करके ध्यानी हर्ष शोक को त्याग देता है।

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ।।

कठ २।२०

इस जन्तु=जीवात्मा का आत्मा सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् है, वह गुहा=हृदय गुफा में निहित=छिपा है। कोई वीतशोक, निष्काम कर्मा पुरुष ही परमात्मा की कृपा से उस अपनी महिमा को, अर्थात् अपनी महत्ता के हेतु को [परमात्मा ही आत्मा की महत्ता का करण है। इसके लिए 'केनोपनिषत्' देखिए] देख पाता है।

पाठ भेद से यह श्लोक श्वेताश्वतरोपनिषत् ३।२० में है। मुण्डकोपनिषत् में भी इस तत्त्व का वर्णन किया गया है—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि ।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ।।६।।
मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।।७।।
हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निश्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ।।९।।

मुण्डको० २।२

इन श्लोकों का अर्थ पहले दे आए हैं। पुनः लिखने की आवश्यकता नहीं।

इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषत् ३।१३ में यही बात कही गई है—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः।
हृदा मनीषी मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

अङ्गुष्ठमात्र (अर्थात् अंगुष्ठ के बराबर हृदय देश में जिस का ज्ञान होता है) अन्तरात्मा पुरुष, हृदय और मन के सामर्थ्य से युक्त, मननशील सदा जनों के हृदय में बैठा है, जो इसे जानते हैं। वे अमृत = मुक्त हो जाते हैं।

इस तत्त्व को समझ कर मनुष्य को चाहिए कि, वह अपने हृदय को राग द्वेषादि मलों से शून्य कर, शुद्ध और विमल बनाए। लोकोपकार के भावों से उसे सदा क्षुद्रतारहितकर विशाल बनाए। जिससे परमपिता के वहाँ दर्शन हो सकें।

एक और कारण से भी 'द्यौः' शब्द का अर्थ यहां हृदय करना समुचित जान पड़ता है। इन मन्त्रों के पहले प्रश्नोत्तर में ब्रह्म को सूर्य्य समान ज्योति कहा है। उसके दर्शन कहां करें? इस जिज्ञासा का उत्तर वेद शास्त्र एक ही कहते हैं:—'हृदय में'। हृदय तो संकीर्ण है, क्षुद्र सी वस्तु है वहां अनन्त सूर्यप्रभ के दर्शन कैसे संभव हैं? इस आशंका को दूर करने के लिए वेद ने हृदय को 'द्यौः' कहा; अर्थात् वह प्रकाशाधार है। ब्रह्मदर्शन के लिए स्थान की विशालता की आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है ज्ञान की द्युति की, अनुभूति के प्रकाश की। ब्रह्मदर्शन हृदय में ही संभव है; इसका बृहदारण्यकोपनिषद् में मनोरंजक वर्णन है। पढ़िए और आनन्द प्राप्त कीजिए—

अथ यदस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः, तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्, तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥१। तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे

दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः, किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यम् यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥२॥ स ब्रूयाद्—यावान्वा अयमाकाशः तावानेषोऽन्तर्हृदये आकाशः उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी समाहिते, उभावाग्निश्च वायुश्चसूर्य्या चन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चेहास्ति यच्च नास्ति, सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति ॥३॥ तं चेद्ब्रूयुः—अस्मिंश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वंछसमाहितं सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामाः। यदनज्जरावाप्नोति, प्रध्वंसतेर्वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥४॥ स ब्रूयात् नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यते एतत्सत्यं ब्रह्मपुरं......॥५॥

भावार्थ—और जो इस ब्रह्मपुर=शरीर में सूक्ष्म कमल स्वरूप गृह है। उसमें सूक्ष्म आकाश प्रकाशमान आकाश है, उसके अन्दर जो है उसकी खोज करनी चाहिए, उसे अवश्य जानना चाहिए॥१॥ उसको यदि कोई कहे—इस ब्रह्मपुर में सूक्ष्म कमल स्वरूप गृह=हृदयगृह है, उसमें सूक्ष्म आकाश भी है, किन्तु उसमें और क्या है जिसकी खोज करनी चाहिए और जिज्ञासा करनी चाहिए ॥२॥ उसके उत्तर में कहे जितना यह वाह्य आकाश है, उतना ही हृदयान्तर्गत आकाश है, उसमें द्यौलोक और पृथिवी समाए हैं, उसही में अग्नि और वायु और उसी में सूर्यचन्द्र समाए हैं। विद्युत और नक्षत्र भी उसी में रहते हैं। जो कुछ इस जीव का यहां है और जो यहां नहीं है, वह सब इसी में समाया है ॥३॥ उससे यदि कहें कि अच्छा यही इस ब्रह्मपुर में सब कुछ समाया है। सब भूत और सब कामना इसी में सम्मिलित हैं। तो फिर जब इसे बुढ़ापा आता है या यह नष्ट हो जाता है, तब फिर क्या बच रहता है ॥४॥ वह इसका उत्तर यों दे—इस शरीर की बुढ़ौती से यह बूढ़ा नहीं होता, न इसकी हत्या होने से इसका बध होता है। यह ब्रह्मपुर सत्य है......॥५॥

सारा प्रपाठक न देकर यहां प्रयोजनीय अंश दिया है। इस

शरीर को 'ब्रह्मपुर' कहा है। उसमें हृदय कमल की स्थिति बतलाई, उस हृदय में आकाश=द्यौः, कहा है। आकाश और द्यौ एकार्थक हैं। उसमें ब्रह्म का होना उपनिषद् बताती है। ब्रह्म में सारी सृष्टि, जीवित मृत सबका रहना कहा है। और वह ब्रह्म हृदयाकाश में रह रहा है, इस वास्ते उपनिषत्कार ने कहाः—भाई! अन्तराकाश छोटा नहीं, खूब विशाल है भला जिसमें ब्रह्म रहते हों वह छोटा कैसे हो सकता है।

उपनिषत्कार ने एक और बात भी सुझा दी है कि शरीर का नाश होता रहता है तद्वत् सारी सृष्टि का क्षय होता है, किन्तु उस ब्रह्म का नाश, अभाव कभी भी नहीं हो सकता। हृदय का कितना महत्त्व है यदि यह समझ में आ जाय तो परमात्मा का साक्षात्कार न हो जाए!

वेद के छोटे से वाक्य की कितनी विस्तृत एवं सारगर्भित व्याख्या ऋषि लोग करते हैं। उनकी आर्ष दृष्टि कितनी पैनी होती है। हम लोग भी यत्न करें, तो उनके दर्शाए मार्ग से चलकर गम्भीर वेदज्ञान प्राप्त कर ब्रह्मदर्शन के अधिकारी बन जाएं।

तीसरा प्रश्नोत्तर है—'इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान्' इन्द्र पृथिवी से वर्षीयान्=वृद्ध=आयु में बड़ा है।

इन्द्र का अर्थ जीवात्मा होता है, जैसा पाणिनि जी अष्टाध्यायी में लिखते हैं,

'इन्द्रियमिन्द्रलिंगमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्त-मिति वा' [पा० ५।२।९३]

अर्थात् इन्द्रिय शब्द के ये अर्थ होते हैं—

१--इन्द्रलिंग=इन्द्र का बोधक, इन्द्र की सत्ता का ज्ञान कराने वाला।

२--इन्द्रदृष्ट=इन्द्र से दृष्ट, ज्ञात।

३--इन्द्रसृष्ट=इन्द्र से निर्मित।

४--इन्द्रजुष्ट=इन्द्र से सेवित=शब्दादि विषय।

५—इन्द्रदत्त=इन्द्र से दिया हुआ अर्थात् विषयों की ओर प्रेरा हुआ।

भट्टोजिदीक्षित भी यहाँ 'इन्द्र=आत्मा' लिखते हैं।

इन्द्रिय शब्द का अर्थ बालक भी जानते हैं, कि यह जीवात्मा के हथियार स्वरूप आंख नाक आदि का नाम है। पाणिनि जी ने आत्मा न कह कर इन्द्र शब्द का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि इन्द्र का अर्थ जीवात्मा है।

पृथिवी का एक अर्थ शरीर भी है (देखो हमारी 'योगोपनिषत् की व्याख्या और उसका परिशिष्ट)।

इस प्रकार इस वाक्य का अभिप्राय हुआ—कि जीवात्मा शरीर से वृद्ध=आयु में बड़ा है। पृथिवी का अर्थ लोक या प्रसिद्ध पृथिवी भी करें, तब भी कोई दोष नहीं।

यह सारी सृष्टि जीव के लिए बनाई गई है। शरीर तथा पृथिवी विनाशी है जीव नित्य है। वेद में अनेक स्थानों पर आत्मा को अनादि और अमर कहा गया है। शरीर तो अनित्य है सादि है। अतः आत्मा इससे आयु में बहुत बड़ा है।

पृथिवी सृष्टिमात्र का उपलक्षण है। इन्द्र का अर्थ परमात्मा है, परमात्मा सृष्टि से बड़ा है। इसमें कोई सन्देह नहीं। प्रकारान्तर से वेद ने यहां आत्मा की नित्यता की सूचना सी दी है। और मानो कह रहा है कि अनित्य पदार्थों में चित्त मत लगाओ। नित्य आत्मा का कल्याण नित्य परमात्मा से हो सकता है। इसी वास्ते यम ने नचिकेता से कहा—

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्। ततो मया नचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्।
कठो० १।२।१०

मैंने समझ लिया है, धन दौलत, माल, खजाना अनित्य हैं। नाशवान् हैं, इन विनाशी पदार्थों से उस नित्य की प्राप्ति नहीं हो

सकती, इस कारण हे नचिकेतः ! मैंने अग्नि=ज्ञानाग्नि का चयन किया है। अनित्य पदार्थों के त्याग से नित्य=आत्मा को मैंने प्राप्त किया है।

चौथे प्रश्न का उत्तर है—'गोस्तु मात्रा न विद्यते' वाणी की मात्रा=परिमाण नहीं है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने लिखा है—

महान्हि शब्दस्य प्रयोगविषयः—सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः सांगाः सरहस्या बहुधा विभिन्नाः, एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं, नवधाथर्वणो वेदः, वाकोवाक्यम्, इतिहासः, पुराणं, वैद्यक इत्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः।

(व्याकरण महाभाष्य प्रथमाध्याय प्रथमपाद—प्रथमाह्निक)

अर्थात्—शब्द का प्रयोग विषय बड़ा है—सातद्वीप युक्त वसुन्धरा, तीन लोक, चार वेद, उनके अङ्ग, उनके रहस्य (अध्यात्म विद्यादि सम्बन्धी ग्रन्थ) उनकी अनेक शाखाएँ, जैसे यजुर्वेद की १०१, सामकी १०००, ऋग्वेदकी २१ अथर्ववेद की ९ शाखाएँ हैं। और वाकोवाक्य (तर्क शास्त्र या प्रश्नोत्तर) इतिहास, पुराण (Naturel. Phenomina) वैद्यक इत्यादि इस प्रकार शब्दका विषय है।

यहाँ महाभाष्यकार ने शब्द विषय का परिगणन नहीं किया, अपितु शब्द की अनन्तता का दिग्दर्शन कराया है।

'अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रं' शब्द शास्त्र का=वाणी का पार नहीं पाया जा सकता। इस वास्ते, कई उपनिषदों में वाणी को ब्रह्म कह दिया गया है।

वेदमें वाणी की महिमा इन शब्दों में गाई गई है—

तस्याः समुद्रा अधिविक्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः।
ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुपजीवति ॥

ऋ० १।१६४।४२

उस वाणी से शब्दरूप समुद्र निकलते हैं, उससे चारों दिशाएँ जीती हैं। उससे अक्षर=अमृत बहता है, उस अक्षर=अमृत से समस्त विश्व का जीवन है।

इसका विशेष विवरण ऋग्वेदीय उपनिषदों में करेंगे। इसी वेदोपनिषत् में आगे चलकर वाणी का स्थान 'परमं व्योम' कहा है। सचमुच वाणी के विस्तार का पार नहीं पाया जा सकता। इस रहस्य को समझ कर मनुष्य चुप हो जाता है। उसका पार जानने के लिए वह 'परम व्योम' की तलाश करता है।

इन दो मन्त्रों में प्रश्नोत्तर द्वारा भगवान् ने अति संक्षिप्त किन्तु अत्यन्त स्पष्ट रीति से सर्वतोमहान पदार्थों का बोध कराया है। साथ ही काकू से तुच्छ और हीन पदार्थों से विरक्ति भी दिलाई है। जीवात्मा को प्रकाश चाहिए, जीवात्मा को रस चाहिए। सांसारिक दशा में शरीर और करण की आवश्यकता होती है। इनका संकेत क्रमशः इन उत्तरों में है। पाठक मनन करें और लाभ उठाएँ। सब कुछ लिखने का सामर्थ्य नहीं।

प्र०-पृच्छामि त्वा चितये देवसख यदि त्वमत्र मनसा जगन्थ।
येषु विष्णुस्त्रिषु पदेष्वेष्टस्तेषु विश्वं भुवनमाविवेशां ३ऽ॥५
उ०—अपि तेषु त्रिषु पदेष्वस्मि येषु विश्वं भुवनमाविवेश।
सद्यः पर्य्येमि पृथिवीमुत द्यामेकेनाङ्गेन दिवोऽअस्य पृष्ठम्।६।

प्र०—हे (देवसख) परमात्मा के प्यारे! अथवा विद्वानों के मित्र! (चितये) समझने के लिए, ज्ञान के लिए (त्वा) तुझसे (पृच्छामि) पूछता हूं (यदि) अगर (त्वम्) तू ने (अत्र) इस विषय में (मनसा) मन से (जगन्थ) विचार किया हो, कि (येषु) जिन (त्रिषु+पदेषु) तीन पदों में (विष्णुः) विष्णु (आ+इष्टः) भले प्रकार से इष्ट अथवा पूजा जाता है। (तेषु) उनमें (विश्वं) सब (भुवनं) संसार (आ+विवेश ३) पूरी तरह से व्याप्त है या नहीं।

उत्तर—मैं (तेषु+त्रिषु+पदेषु) उन तीन पदों में (अस्मि) हूं

(अपि) और तू भी। (येषु+विश्वं+भुवनं+आविवेश) जिनमें सब संसार समाया है। मैं (सद्यः) एक क्षण में (पृथिवीं) पृथवी (उत) और (द्याम्) अन्तरिक्ष लोक तथा (अस्य) इस (दिवः) सूर्य्यादि प्रकाशमय लोकों के (पृष्ठं) आधार को (एकेन) अकेले (अंगेन) अङ्ग से (परि+एमि) पूरी तरह प्राप्त होता हूँ।

यहाँ केवल एक प्रश्न है। किन्तु है बड़ा गम्भीर।

वेद में विष्णु और उसके तीन पदों का वर्णन बहुत स्थान पर आया है। ब्राह्मण ग्रन्थों तथा पुराणों में भी विष्णु की तथा उसके तीन पदों की चर्चा बहुत बार आती है। विष्णु तथा उसके तीन पदों का ज्ञान हो जाने से सारा रहस्य खुल जाता है।

विष्णु का एक अर्थ 'यज्ञ' है। शतपथ ब्राह्मण में 'यज्ञो वै विष्णुः' पाठ बहुत स्थानों पर आता है। इसके अनुसार तीन पद गार्हपत्य, आहवनीय, और अन्वाहार्य्यपचनीय नामक तीन अग्निएँ होंगी। अथवा प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन एवं तृतीय सवन (सायं सवन) तीन पद हो सकते हैं। अथवा तीन पदों से तीनों लोक हो सकते हैं, क्योंकि परमात्मा का रचा तीन लोकों में बराबर चल रहा है। अथवा अग्निहोत्र इष्टि तथा सोम तीन पद हो सकते हैं, क्योंकि यही तीन यज्ञमात्र की प्रकृति हैं। अस्तु, अधियज्ञ व्याख्या हमें यहाँ नहीं करनी, अतः इसका विस्तार न कर इसे यहीं छोड़ते हैं।

जगन्निर्माता तथा जगत् के पालक को भी विष्णु कहते हैं, जैसा कि ऋग्वेद में कहा है।

प्रविष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षत उरुगाय वृष्णे।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः॥३॥
यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा॥४॥

जो अकेला इस दीर्घ=विशाल पवित्र अथवा प्रयत्न-साध्य समानस्थान रूप जगत् को तीन पदों=सत्त्व रज तम रूप तीन गुणों

से नाना प्रकार से रचता है । उस पर्वत मेघादि महाकाय पदार्थों को यथास्थान निवास देनेवाले, उरुगाय=बहुतों से स्तूयमान अथवा अनेकों स्तुतियों के भाजन, महापराक्रमी सर्वव्यापक विष्णु से विज्ञान और बल प्राप्त होता है । जिसके तीन पद मधुरता से पूर्ण और क्षय को प्राप्त न होते हुए अपनी शक्ति से सबको आनन्द देते हैं । जो तीन धारक गुणों से बने पृथिवी और द्यौ आदि सारे भुवनों को अकेला ही धारण करता है ।

इन मन्त्रों की विशेष व्याख्या हम अन्यत्र करेंगे । यहाँ तो केवल इतना बताना अभीष्ट है कि वेद में विष्णु का अर्थ जगत्कर्त्ता तथा जगत् का धर्त्ता कहा है । अर्थात् विष्णु का अर्थ परमात्मा है ।

अब 'पद' शब्द पर थोड़ा सा विचार करते हैं—'पद' शब्द के अर्थ—बोध, ज्ञान, बोध का साधन, बोध का विषय, बोध की प्राप्ति, प्राप्ति का साधन, प्राप्ति का विषय, प्राप्ति का अधिकरण या स्थान आदि हैं । विष्णु के साथ पद का व्यवहार, पहले वताया जा चुका है, वेद में बहुत स्थानों पर आया है । पूर्वोद्धृत ऋग्वेद १।१५४।३ मन्त्र का उत्तरार्द्ध 'पद' शब्द के अर्थ को बहुत स्पष्ट करता है—

'य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित्पदेभिः ।'

जो अकेला इस विशाल, प्रयत्न-साध्य, सधस्थ=समान स्थान रूप जगत् को तीन पदों से बनाता है ।

इससे प्रतीत होता है कि तीन पद सृष्टि रचना के साधन हैं । वैदिकदर्शनों में जगत् के उपादान कारण प्रकृति को तीन गुणवाली माना जाता है । संसार में सत्त्व, रजस् और तमस् के देखने से त्रिगुणमयी मूल प्रकृति का बोध होता है ।

अब प्रश्न मन्त्र का अर्थ हुआ—हे देवसखा ! समझने के लिए तुझसे पूछता हूं, यदि तूने इस विषय में मनसे विचार किया हो; कि जिन तीन पदों=सत्त्वरजस्तमोरूप तीन गुणों में विष्णु सर्वव्यापक जगत् का कर्त्ता धर्त्ता प्रभु आ=पूर्णरूपसे इष्ट=संगत है, मिला हुआ है व्यापक है ['इष्ट' पद यज' धातु का रूप है, 'यज'का एक अर्थ संगति-

करण, मिलना मिलाना है] अथवा सत्त्वरजस्तमोगुणों में यथायोग्य संगति करता है। उनमें सारा संसार आविष्ट है या नहीं ?

उत्तर मन्त्र का अर्थ—(येषु विश्वं भुवनं आविवेश) जिनमें सारा संसार समाया है (तेषु पदेषु अस्मि) मैं उन तीन गुणों में हूं, (अपि) और तू भी है। और मैं (सद्यः) फ़ौरन=एक क्षण में (एकेन अंगेन) एक अंगसे (पृथिवीं+उत+द्यां) पृथवी और द्यौ, और (अस्य+दिवः+पृष्ठं) इस द्यौ की पीठ=अन्तरिक्ष अथवा आधार को (परि+एमि) पूर्णतया प्राप्त हूं।

इस उत्तर पर ध्यान दें, यह उत्तर भगवान् की ओर से है। भगवान् कहते हैं, जिज्ञासुओ ! मैं उन तीन गुणों में व्यापक हूं, तू भी उनमें रहता है। प्रकृति के बने शरीर में ही तो जीवात्मा रहता है। इस वास्ते जीवात्मा भी तीनों गुणों में विद्यमान है। कहीं जीव को यह भ्रान्ति न हो जाए कि मैं भी ब्रह्मकी भांति व्यापक हूं, उस आशंका के वारण करने के लिए भगवान् ने मन्त्र के उत्तरार्द्ध में उपदेश दिया है—कि मैं तो एक अंगसे सारे विश्वमें व्यापक हूं। अर्थात् तू जीव व्यापक नहीं। 'एक अंग क्या है। इसका उत्तर वेद से ही हमें मिल लाता है।

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।। यजु।। ३१।३।।

एतावान्=भूतभविष्यद्वर्त्तमान काल संबन्धी जगत् इस पूर्ण पुरुष की महिमा=बढ़ाई प्रकाशित करने वाला है। पुरुष=पूर्ण भगवान् तो इससे वहुत वड़ा है। संपूर्ण भूत=संसार मात्र इसका एक पाद=अंश है। इसके तीन पाद अपनी प्रकाशमयी सत्ता में ही रहते हैं।

'सद्यः पर्य्येमि······एकेनाङ्गेन' का कितना स्पष्ट व्याख्यान है। वेदसे वेदार्थ का यत्न किया जाए तो बहुतसी गुत्थिएं सुलझ जाती हैं। यह संसार सावयव और सान्त है। परमात्मा निरवयव और अनन्त है। अतएव यह तो उसके अंशमें ही रहेगा। इसी वास्ते

वह सदा इसमें व्यापक रहता है।

भगवान् सृष्टिमें रहता हुआ भी सृष्टि से शेष है—अतिरिक्त है, ऐसे भगवान् का ज्ञान करना कितना कठिन है। वेद ने अपनी स्वाभाविक सरल रीति से किस अद्भुत प्रकार से उसे समझाया है। परमेश्वर की सर्वव्यापकता का पूर्ण बोध होने से मनुष्य के पाप ताप कट जाते हैं।

प्र०—केष्वन्तः पुरुष आ विवेश कान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।
एतद्ब्रह्मन्नुप वल्हामसित्वा किँस्विन्नः प्रतिवोचास्यत्र॥७॥
उ०—पंचस्वन्तः पुरुष आविवेश तान्यन्तः पुरुषे अर्पितानि।
एतत्त्वात्र प्रतिमन्वानो अस्मि न मायया भवस्युत्तरो मत्॥८॥

प्रश्न—(केषु+अन्तः) किनमें (पुरुषः) पुरुष (आ+विवेश) आविष्ट है, समाया है? और (कानि) कौन (पुरुषे+अन्तः) पुरुष में या पुरुष के लिए (अर्पितानि) अर्पित हैं। हे (ब्रह्मन्) ब्रह्मन्, चतुर्वेदवित् अथवा साक्षात् ब्रह्म! (एतत्) यह (त्वा) तुझसे (उप) समीप आकर (बल्हामसि) प्रश्न करते हैं। (अत्र) इस विषयमें (नः) हमें (किं) क्या (प्रति+वोचासि) प्रत्युत्तर देते हो, जवाब देते हो?।

उत्तर—[पंचसु+अन्तः] पांच में पुरुष [आ+विवेश] आविष्ट हैं। [तानि] वही पांच [पुरुषे+अन्तः] पुरुष में या पुरुष के लिए [अर्पितानि] अर्पित हैं। [त्वा] तुझको [अत्र] इस विषय में [एतत्] यह [प्रतिमन्वानः+अस्मि] प्रत्युत्तर देता हूं=समाधान देता हूं। तू [मायया] बुद्धि के द्वारा [मत्] मुझसे [उत्तर] उत्कृष्ट [न] नहीं [भवसि] है।

यहां दो प्रश्न हैं। १. पुरुष किनमें आविष्ट है? और २. पुरुष में कौन अर्पित हैं?-उत्तर है—१. पांच में पुरुष आविष्ट है और २. वे पांच पुरुष में अर्पित हैं।

इर दोनों प्रश्नोत्तरों का रहस्य 'पुरुष' शब्द का अर्थ समझने से

खुल जाता है। अथर्ववेद के १०वें काण्ड के दूसरे सूक्त में तीन मन्त्र हैं, जो 'पुरुष' शब्द का अर्थ बतलाते हैं, वह मन्त्र इस प्रकार हैं—

ऊर्ध्वो नु सृष्टा ३ स्तिर्यङ्नु सृष्टा ३: सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३ । पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥२८॥
यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् ।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥२९॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसःपुरा ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥३०॥

पुरुष ऊपर नीचे दाएं-वाएं सर्वत्र सृष्टि रचना करता है, वह सब दिशाओं में व्यापक है [अथवा कर्म्मानुसार उत्तम गतिवाला भी बनता है, और नीचावस्था को भी प्राप्त होता है, अर्थात् पुरुष सब दशाओं में आता है] इसी कारण से यह 'पुरुष' कहलाता है। वह उत्तमावस्थाको प्राप्त करता है, जो ब्रह्मकी पुरीको जानता है। उसके लिए—जो अमृत से आच्छादित=घिरी हुई ब्रह्म की पुरी को जानता है—ब्रह्म और ब्राह्म=ब्रह्मभक्त आंख, प्राण और प्रजा देते हैं। 'पुरुष' वही कहा जाता है, जो इस ब्रह्म की पुरी को जानता है। बुढ़ापे से पहले न उसे आंख छोड़ती है, और न ही प्राण छोड़ता है।

इन तीनों मन्त्रों पर थोड़ा-सा भी विचार करने से मालूम हो जाता है कि वेद की परिभाषा में "पुरुष" शब्द का अर्थ जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों ही हैं। प्रतीत होता है कि इन्हीं मन्त्रों के अभि-प्राय को मन में रखकर निरुक्तकार श्री यास्काचार्य्य जी ने

"पुरुषं पुरिशय इत्याचक्षीरन्" [निरु १।१३] और **पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा, पूरयत्यन्तरित्यन्तर-पुरुषमभिप्रेत्य"** कहा। अर्थात् पुर=शरीर अथवा संसार में रहने वाले को "पुरुष" कहते हैं और "पुर+सद्" या "पुर्+शी" इस प्रकार पुरुष शब्द बनता है। या "पूर्ण करना" अर्थ वाले "पृ धातु" से यह

पुरुष वनता है। अन्तर पुरुष के अभिप्राय से "पूरयत्यन्तः" निरुक्ति होती है। इस अन्तर पुरुष अर्थ में निरुक्तकार ने एक प्रमाण भी दिया है:—

यस्मात्परं नापरमस्ति किंचिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोस्ति कश्चित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ।। श्वेता० ३।९ ।।

जिससे पूर्व, अथवा उत्तम जिससे पश्चात् होने वाली उस जैसी कोई वस्तु नहीं है, जिससे न कोई महान अथवा आयु में वड़ा और न सूक्ष्म है, जो वृक्ष की भांति निश्चल हुआ अपने प्रकाश में ठहरा है, उस पुरुष से यह समस्त जगत् पूर्ण है। [जिस प्रकार वृक्ष पत्र, पुष्प, फल शाखा आदि को धारण करता है, पत्रादि गिरते रहते हैं और नये पैदा होते रहते हैं, उनकी अपेक्षा वृक्ष निश्चल है, तद्वत् गिरि पर्वत आदि पदार्थ वनते विगड़ते हैं, किन्तु प्रभु निश्चल, निष्कम्प रहता है, अर्थात् इस विकारवान् संसार का आश्रय होता हुआ भी भगवान् अविकारी है।] "पुरुष" शब्द का विशेष विवेचन "यजुर्वेदीय पुरुषोपनिषद्" की व्याख्या में किया जाएगा, पाठक वहां देखें।

अब पुरुष का अर्थ परमात्मा मानकर उत्तरों का आशय यह वनता है।

पांच में पुरुष परमात्मा व्यापक है, और पांच पुरुष में रहते हैं। "पांच" से यहां पांच महाभूत—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश हैं। यही पाँच महाभूत सृष्टि का उपादान कारण हैं। सृष्टि न कहकर पाँच महाभूत कहने में एक विशेषता है। पांच भूत स्थूल और सूक्ष्म अर्थात् कारण और कार्य्य दोनों प्रकार के होते हैं। वेद का मन्त्र हमें बताता है, कि जगदात्मा=परमात्मा स्थूल, सूक्ष्म अथवा कार्य्य कारण सब में व्यापक है। इतनी ही नहीं, अपितु यह सारे कार्य्यकारणात्मक भूत उसी में समाए हैं। यजुर्वेदीय पुरुषोपनिषत् सारी की सारी भगवान् की इसी स्थिति का वर्णन करती है।

'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः'

यजुर्वेद ४० । ५ ।।

यह मन्त्र खण्ड भी इसी का प्रतिपादन करता है । अर्थात् भगवान् सबके अन्दर भी और बाहर भी है । तात्पर्य्य यह है कि भगवान् सब में व्यापक होकर इससे अतिरिक्त भी है । यह विचार समझ में शायद कठिनता से आए, किन्तु है सोलह आने सच ।

जीव पक्षमें मन्त्र का भाव यह होता है:—

पुरुष=जीव पांच में आविष्ट है, और पांच पुरुष के अर्पित हैं । पांच से यहां तात्पर्य्य पांच कोश हैं। जीवात्मा उन में रहता हुआ उनसे पृथक् है । वे पांच कोश निम्नलिखित हैं:—

१—अन्नमय कोश, २—प्राणमय कोश, ३—मनोमय कोश, ४—विज्ञानमय कोश तथा ५—अनन्दमय कोश ।

आचार्य्य इन कोशों का वर्णन इस प्रकार करते हैं:—

१—पहला **"अन्नमय"** जो त्वचा से लेकर अस्थिपर्य्यन्तका समुदाय पृथिवीमय है ।

२—दूसरा **"प्राणमय"** जिसमें "प्राण" अर्थात् जो बाहर से भीतर आता, "अपान" जो भीतर से बाहर जाता, "समान" जो नाभिस्थ होकर सर्वत्र शरीर में रस पहुँचाता, "उदान" जिससे कण्ठस्थ अन्नपान खैंचा जाता और बल पराक्रम होता है । "व्यान" जिससे सब शरीर में चेष्टादि कर्म्म जीव करता है ।

३—तीसरा **"मनोमय"** जिस में मन के साथ अहंकार वाक्, पाद, पाणि, पायु, और उपस्थ पांच कर्म इन्द्रियाँ हैं ।

४—चौथा **"विज्ञानमय"** जिसमें बुद्धि, चित्त, श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका ये पांच ज्ञान इन्द्रियां हैं, जिनसे जीव ज्ञानादि व्यवहार करता है ।

५—पांचवां **"आनन्दमयकोश"** जिसमें प्रीति, प्रसन्नता, न्यून आनन्द, अधिकानन्द और आधार कारण रूप प्रकृति है। ये पांच कोश

कहाते हैं, इन्हीं से जीव सब प्रकार के कर्म, उपासना और ज्ञानादि व्यवहारों को करता है।"

(सत्यार्थप्रकाश नवम समुल्लास)

इस सन्दर्भ से स्पष्ट सिद्ध है कि जीवात्मा इन सब से पृथक् है, और मानो इनके अन्दर छिपा हुआ है, इन कोशों को=परदों को दूर करो, तो आत्मदर्शन सुलभ हो जाते हैं। यह पांच कोश स्थूल और कारणशरीर से अभिन्न हैं।

कोई कोई यहां "पांच" से पांच प्राण ही लेते हैं, जैसे मुण्डकोपनिषद् में लिखा है:—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो

यस्मिन् प्राणः पंचधा संविवेश।

प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां

यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥ मुण्डक० ३।१।९॥

पूर्वोक्त जीवात्मा चित्त से=चिन्तन से जाना जा सकता है, इसमें "प्राण" पांच—प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान-भेदों से संविष्ट हुआ है। सब प्राणियों का चित्त प्राणों से ओत प्रोत है। जिसके शुद्ध होने पर यह आत्मा विभूतियों वाला हो जाता है। उपनिषद् के इस भाव को वेद में भी वर्णन किया गया है।

पंच नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः।

सरस्वती तु पंचधा सो देशेऽभवत्सरित्॥यजु॥३४।११॥

स्रोतों सहित पांच नदियां=इन्द्रियां, सरस्वती=ज्ञानस्वरूप आत्मा को प्राप्त हो रही है; और वह सरस्वती=आत्मा भी शरीररूप देश में पांच प्रकार की सरित्=गतिवाली हो गई।

पांचों इन्द्रियां बाहर से आत्मा को लाकर ज्ञान देती हैं और आत्मा इस शरीर में इन्द्रियों द्वारा अपना प्रकाश करता है। यही पांच ज्ञानेन्द्रियां जब पुरुष के वश में आ जाती हैं तब मोक्ष प्राप्त हो जाता है, जैसा कि कठोपनिषद् में कहा है—

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् । कठ० ६ । १०॥

जब यह मनसहित पांचों ज्ञानेन्द्रियां अपने व्यापार से विरत हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती, उसे परम गति कहते हैं। प्रश्नोपनिषद् के चतुर्थ प्रश्न में इसी प्रश्नकी व्याख्या है—

अथ हैनं सौर्य्यायणी गार्ग्यःपप्रच्छ—'भगवन्नेतस्मिनन्पुरुषे कानि स्वपन्ति, कान्यस्मिन् जाग्रति, कतर एष देवः स्वप्नान् पश्यति, कस्यैतत् सुखं भवति, कस्मिन्नु सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥ तस्मै स होवाच—यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिँस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति, ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्ति; एवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकी भवति, तेन, तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते न विसृजते नेयायते, स्वपितीत्याचक्षते ॥ प्राणाग्नय एवैतस्मिन पुरे जाग्रति । गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो, व्यानोऽन्वाहार्य्य-पचनो, यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः यदु-च्छ्वासनिच्छ्वासावेतावाहुती । समं नयतीति स समानः । मनो ह वाव यजमानः । इष्टफलमेवोदानः । स एनं यजमान-महरहर्ब्रह्म गमयति ॥ अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति, यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति, श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुश्रृणोति, देशदि-गन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति, दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ॥ स यदा तेजसाऽभिभूतो भवति, अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यति, अथ तदैतस्मिञ्छरीरे एतत्सुखं भवति ॥ स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते, एवं ह वै तत्सर्वं

पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते ॥ पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च, चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहंकारश्चाहंकर्त्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥ एष ह द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षरे आत्मनि सम्प्रतिष्ठते ॥ परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वैतदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य ! स सर्वज्ञः सर्वो भवति, तदेष श्लोकः—

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः,
प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र ।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य !
स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ॥

भावार्थ—अब पिप्पलाद जी से गर्गगोत्रोत्पन्न सौर्य्यायणी ने पूछा—महाराज! इस पुरुष में कौन सोते हैं, कौन इसमें जागते हैं, और [सब इन्द्रियों के उपरत होने पर किस के द्वारा] कौन सा देव स्वप्नों को देखता है । यह लोकप्रसिद्ध सुख किसको होता है, और किसमें सब आश्रित होते हैं ? पिप्पलाद ने उसे उत्तर दिया—हे गार्ग्य ! जैसे अस्त होते सूर्य्य की सब किरणें उसी तेजोमण्डल में इकट्ठी हो जाती हैं । और फिर उसके उदय होने पर जगत् में फैलती हैं । इसी प्रकार ये सारी इन्द्रियां इस उत्कृष्ट देव= मन में जाकर एक हो जाती हैं । इस कारण तब यह पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूंघता है, न चखता

है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न लेता है, न शौच जाता है, न गति करता है। "सोता है" ऐसा कहते हैं। प्राण रूप अग्नियां ही इस शरीर में जागती हैं, यह अपान ही गार्हपत्य है, व्यान ही अन्वाहार्यपचन=दक्षिणाग्नि=दीक्षणीयाग्नि हैं, जो गार्हपत्य से ले जाई जाती है, प्रणयन के कारण आहवनीय प्राण है। जो उच्छ्वास और निःश्वास रूप इन दो आहुतियों को समान रूप से ले जाता है, वह समान है। मन ही यजमान है। इष्ट फल ही उदान है, वह इस यजमान को प्रतिदिन ब्रह्म के पास ले जाता है। यहां यह देव स्वप्न में महिमा को अनुभव करता है जो वह बार बार के देखे को फिर देखता है, बार २ सुने अर्थ को फिर सुनता है, देश देशान्तरों में अनुभव किए पदार्थों को पुनः अनुभव करता है। दृष्ट और अदृष्ट, सुने और न सुने, अनुभूत और अननुभूत, विद्यमान और अविद्यमान—सब कुछ को देखता है, सब कुछ होकर देखता है। जब यह ब्रह्मतेज से अभिभूत होता है, तब इस ब्रह्मसम्पत्ति दशा में यह देव स्वप्नों को नहीं देखता, तब वह इसी शरीर में यहीं इस सुख को अनुभव करता है। हे सोम्य! जैसे पक्षी वास वृक्ष पर बैठ जाते हैं, इसी तरह वह सब उस पर-आत्मा=जीवात्मा में सम्प्रतिष्ठित हो जाता है–पृथिवी और पृथिवी की तन्मात्रा जल और जल की तन्मात्रा, अग्नि और अग्नि की तन्मात्रा, वायु और वायु की तन्मात्रा, आकाश और आकाश की तन्मात्रा, तथा आंख और उस का विषय, कान और उसका विषय, नाक और उसका विषय, रसना=जिह्वा और उसका विषय, त्वक् और उसका विषय, एवंच वाणी और बोलना, हाथ और ग्रहण, उपस्थ और भोग, पायु और मल त्याग, चरण और गमन, तथाच मन और उसका कार्य्य मन्तव्य, अहंकार और उसकी क्रिया अहंकर्त्तव्य, चित्त और उसका काम चेतयितव्य, तेज और प्रकाश, प्राण और जीवन-धारण ये सब उस में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। यही जीवात्मा ही देखने वाला स्पर्श करने वाला सुनने वाला, सूंघने वाला चखने वाला, मनन करने वाला, बुद्धि वाला कर्त्ता और विज्ञानमय पुरुष है। वह पर

अविनाशी परमात्मा में प्रतिष्ठित होता है। हे सोम्य ! वह भी परम अविनाशी ब्रह्म को प्राप्त होता है, जो छाया रहित, शरीर रहित, रंगरूप रहित पवित्र अक्षर को जानता है, वह सर्वज्ञ और सर्व=सूंघना आदि सब कर्मों के करने वाला हो जाता है। इस विषय में यह श्लोक है:—

जिसमें सब देवों=इन्द्रियों के साथ विज्ञानात्मा=जीवात्मा, प्राण और भूत प्रतिष्ठित होते हैं, हे सोम्य ! उस अक्षर को जो जानता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है, और सब में आविष्ट हो जाता है।

ध्यान से विचारिए—उपनिषद् के इस सन्दर्भ में पांच प्रश्नोत्तर हैं–१—कौन सोते हैं ? २—कौन जागते हैं ? ३—कौन स्वप्न देखता है ? ४—किसको सुख होता है ? ५—किसमें सब प्रतिष्ठित होते हैं ? पूर्व चार प्रश्न पांचवे को सुलझाने के लिए हैं। वेद ने जो बात दो प्रश्नोत्तरों में कही है। ऋषि नें वही खोल कर विस्तार से कही है।

'पंच' शब्द से पांच ज्ञानेन्द्रियां, या पांच कर्मेन्द्रियां या पांच प्राण भी लिए जा सकते हैं। विना इनके जीव अपना कोई कार्य्य नहीं कर सकता, और न ही ये सारे जीवके विना रह सकते हैं। प्रश्नोपनिषत् के तीसरे प्रश्न में प्राणों का आत्मा से सम्बन्ध, प्राणोंका देह में स्थान, बाह्य जगत् में प्राणों का प्रतिनिधित्व आदि विषय वड़ी सुन्दर युक्ति से प्रतिपादन किए गए हैं। प्रकृत विषय से उसका सम्बन्ध भी है, अतः उस प्रश्न को हम यहां अविकल उद्धृत कर देते हैं—

अथ हैनं कोसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ—'भगवन् ! कुत एष प्राणो जायते, कथमायात्यस्मिञ्छरीरे आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते, केनोत्क्रमते, कथं बाह्यमभिधत्ते, कथमध्यात्मम्' इति ।। तस्मै स होवाच—'अतिप्रश्नान् पृच्छसि' ब्रह्मिष्ठोसीति, तस्मात्तेऽहं ब्रवीमिं ।। आत्मन एष प्राणो जायते, यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं. मनोधिकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे ।। यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुंक्ते–एतान्

ग्रामानेतान् ग्रामानधितिष्ठस्वेति-एवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान् पृथक् पृथगेव सन्निधत्ते ।। पायूपस्थेऽपानं, चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते, मध्ये तु समानः, एष ह्य ेतद्धुतमन्नं समुन्नयति, तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति । हृदि ह्य ेष आत्मा, अत्रैतदेकशतं नाडीनां, तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्ति आसु व्यानश्चरति ।। अथैकया ऊर्ध्वं उदानः पुण्येन पुण्यलोकं नयति, पापेन पापम् उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ।। आदित्यो ह वै बाह्यः प्राणः उदयत्येष ह्य ेनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः । पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः ।। तेजो ह वाव उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः । पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः ।। यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ।। य एवं विद्वान् प्राणं वेद, न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति, तदेष श्लोकः—

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा ।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते विज्ञायामृतमश्नुते ।।

भावार्थ—इसके पश्चात् अश्वलगोत्रोत्पन्न कौसल्य ने पिप्पलाद जी से पूछा—महाराज ! यह प्राण कहां से या क्यों पैदा होता है ? इस शरीर में कैसे आता है ? किस प्रकार अपना अपना विभाग कर के रहता है ? कैसे बाहर निकलता है ? बाह्य स्थूल शरीर को कैसे धारण करता है ? और कैसे अध्यात्म=भीतर के मन आदि को धारण करता है । उसको पिप्पलादजी ने कहा—बहुत कठिन प्रश्न पूछते हो, ब्रह्मिष्ठ=वेदवेत्ता हो, अतः तुम्हें बतलाते हैं । जगदात्मा=परमात्मा रूप निमित्त कारण से या अपने आप यह प्राण उत्पन्न होता है जैसे इस देह की छाया है, वैसे ही यह इसमें फैला हुआ है, मन से

अधिकृत होकर यप शरीर में आता है। जैसे सम्राट् अधिकारियों को नियुक्त करता है—कि तुम इन ग्रामों पर अधिकार करो। इसी प्रकार यह प्राण दूसरे प्राणोंको जुदा जुदा नियुक्त करता है। पायु=मलेन्द्रिय तथा उपस्थ=मूत्रेन्द्रियमें अपान को नियुक्त करता है। आंख, कान, और मनमें प्राण स्वयं रहता है, मध्यमें समान रहता है, यह खाए अन्न को ठीक प्रकार सब शरीर में पहुंचाता है, इससे सात ज्वालाएं= दो आंखें, दो कान, दो नाक तथा एक मुख प्रकट होती हैं। यह जीवात्मा हृदयमें रहता है, इस हृदय में एक सौ एक नाड़ियां हैं, उनमें से प्रत्येक की १००-१०० शाखा नाड़ियां है, और फिर प्रत्येक की ७२०००,७२००० शाखा नाड़ियां हैं इनमें व्यान विचरता है। इनमें एक नाड़ी के द्वारा ऊपर को जाने वाला उदान पुण्यकर्म्म के बल से पुण्यजन्म प्राप्त करता है, और पापके कारण निकृष्ट योनि में ले जाता है, पाप पुण्य दोनों के बराबर होने से मनुष्य जन्म मिलता है। बाह्य में आदित्य चाक्षुष=चक्षुमें रहनेवाली प्राणशक्ति की सहायता करता हुआ उदय होता है। पृथिवी में जो दिव्यशक्ति है, वह पुरुष के अपान को रोक रखती है। द्यावापृथिवीके बीचमें जो अन्तरिक्ष है वह समान है, वायु व्यान है। तेज उदान है, इस वास्ते कहते हैं, कि जिसका तेज शान्त हो जाता है, वह इन्द्रियों के मन में लीन होने पर फिर जन्म लेता है। जिस वासना से यह आत्मा प्राण को प्राप्त होता है, प्राण तेज और आत्मा से युक्त हुआ यथाभिलषित लोक में [सारी आयु जैसे कर्म्म किए होते हैं, वैसी वासना बनती है, उसी के अनुसार अभिलाषा बनती है] ले जाता है। जो इस रहस्य को समझ कर प्राण को समझता है, उसकी सन्तान नष्ट नहीं होती, वह मुक्त हो जाता है इस विषय में यह श्लोक प्रमाण है—

प्राण की उत्पत्ति, शरीर में आगमन, पाँच प्रकार की स्थिति, पांच प्रकार की विभूति और अध्यात्म=अन्तः व्यापार को जानकर निश्चय जीव मुक्त हो जाता है।

इस उद्धरण में ६ प्रश्न हैं—१. यह प्राण कहां से उत्पन्न होता

है ? २. इस शरीर में कैसे आता है ? ३. कैसे अपना विभाग करके रहता है ? ४. कैसे बाहर निकलता है ? ५. ६. बाह्य तथा अध्यात्म को कैसे धारण करता है ?

यह प्रश्न प्राण और आत्माके सम्बन्धकी गुत्थी सुलझानेके लिए किए गए हैं। वेद के प्रश्नोंमें भी प्राण का आधार अत्मा और आत्मा की कार्य्यसाधकशक्ति के विषय में पूछा है। भगवान् ने सूक्ष्मरूप से वेद में जो बात (आत्मा प्राणों में आविष्ट है और प्राण आत्मा के अर्पित हैं) बताई है, उस बात को स्पष्ट करने के लिए ऋषिने छह प्रश्नोत्तर किए हैं। क्योंकि जब यह बात कही, कि आत्मा प्राण में समाया है, और प्राण आत्मा के हवाले किए गए हैं। तब स्वाभाविक ही यह जिज्ञासा होती है कि प्राण कहां से आता है ? कैसे इस शरीर में आता है ? स्थूलदेह से इसका क्या सम्बन्ध है ? सूक्ष्मशरीर से इसका क्या रिश्ता है ? कैसे बाहर जाता है ? शरीर मैं कहां-कहां रहता है ? इस जिज्ञासा के समाधान करने के लिए ही हमने उपनिषत् को उद्धृत किया है। प्राण की उत्पत्ति का कारण आत्मा है। परमात्मा इसको उत्पन्न करते हैं, जीवात्मा के लिए यह पैदा होता है, इन दोनों बातों को प्रकट करने के लिए "आत्मन एष प्राणो जायते' कहा गया है। 'आत्मा' शब्द उपनिषदों में जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। इस रहस्य को न जानकर कई लोगों ने आत्मा को प्राण का उपादान कारण बनाने का दुस्साहस किया है। पूर्व कृत-कर्म्मों की वासनाओं से वासित मन [मन से यहां सूक्ष्मशरीर अभिप्रेत है] के अधिकार से प्राणों को शरीर में जाना पड़ता है। प्राण के- प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान नाम से पांच भेद हैं, उनके स्थान तथा विभुत्व=विभूतियां=शक्तियां भी बतादी हैं। प्रसंग से आत्मा का स्थान भी बतला दिया है। उदान के कारण पूर्व शरीर का त्याग और दूसरे देह की प्राप्ति होती है। जैसे शरीर के अन्दर प्राण कार्य्य करता है, वैसे ही बाह्य जगत् में भी महाप्राण=सूत्रात्मा काम कर रहा है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड की सदृशता तो ऋषि अवश्य

ही वतलाते हैं। किन-किन कर्म्मों के कारण क्या-क्या योनी मिलती है, यह भी वता दिया है। इस तरह सोचें, तो संपूर्ण अध्यात्मविद्या का विचार संक्षेप से कर दिया गया है। जो इस प्राण विद्या को भली प्रकार जान लेगा, उसकी अवश्य मुक्ति हो जायगी।

प्र—का स्विदासीत्पूर्वचित्तिः कि౮स्विदासीद्बृहद्वयः।
का स्विदासीत्पिलिप्पिला का स्विदासीत्पिशङ्गिला ॥९॥
उ—द्यौरासीत्पूर्वचित्तिरश्व आसीद् बृहद्वयः।
अविरासीत्पिलिप्पिला रात्रिरासीत्पिशंगिला ॥ १० ॥

प्र०— (पूर्वचित्तिः) प्रथम चयन (का+स्विद्) क्या (आसीत्) होता है (बृहत्) वड़ा (वयः) उत्पन्न पदार्थ (किं+स्विद्) क्या (आसीत्) होता है (पिलिप्पिला) पिलिप्पिला (का+स्वित्) कौन सी वस्तु (आसीत्) होती है। (पिशंगिला) पिशंगिला=अवयवों को भीतर करने वाली वस्तु (का+स्विद्) कौन सी (आसीत्) होती है।

उत्तर—(द्यौः) द्यौ=विद्यु त् (पूर्वचित्तिः) प्रथम चयन=पहला कार्य्य (आसीत्) होता है (अश्वः) अश्व=महत्तत्व (बृहद्) महान् (वयः) उत्पन्न पदार्थ (आसीत्) है। (अविः) प्रकृति (पिलिप्पिला) पिलपिली=चिकनी (आसीत्) होती है। (रात्रिः) रात्रि के समान प्रलय (पिशङ्गिला) सब अवयवों को भीतर करने वाली (आसीत्) है।

इन मन्त्रों में चार प्रश्न हैं, ये चारों प्रश्न सृष्टिविद्या-विषयक हैं। ब्रह्मजिज्ञासा से पूर्व विवेक, वैराग्य, षट्कसाधनसम्पत्ति, मुमुक्षुत्व रूप साधनचतुष्टय सम्पन्न होना आवश्यक है। पहला साधन विवेक है, "विवेक" कार्य्य कारण, जीव, ब्रह्म, प्रकृति आदि के भेद ज्ञान का नाम है। जीव, ब्रह्म, के विषय में कह कर अव सृष्टि के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर किए हैं।

पहला प्रश्न है, पूर्वचित्ति=प्रथम चयन क्या होता है? उत्तर

दिया है, द्यौ=विद्युत प्रथम चयन है ।

चित्ति का अर्थ ऋषि दयानन्द जी ने चयन किया है, "चयन" का अर्थ संग्रह करना होता है। प्रकृति अपनी मूल अवस्था में परमाणु रूप होती है। जब भगवान् उससे जीवों के कल्याण के लिए सृष्टि रचना करते हैं, तो भिन्न भिन्न जीवों के पूर्वकर्म्मानुसार उपयोगी परमाणुओं का संग्रह=संचय करते हैं। अब चयन करते समय उनको विशेष रूप देने के लिए परमाणुओं में संघर्ष=रगड़ होती है। रगड़ से अग्नि पैदा होती है, यह सर्वानुभवसिद्ध है। उसी रगड़ से पैदा होने वाली अग्नि=विजली को वेद में 'द्यौ' कहा गया है। ऋषि दयानन्द ने भी द्यौ का अर्थ विद्युत् किया है। यह विद्युत् प्रथम चयन है।

उसके बाद उन परमाणुओं से जो कुछ बनता है, उसे सांख्यशास्त्र में महत्तत्त्व कहा है। वेद में उसे "अश्व" कहा है। अश्व का अर्थ ऋषि ने महत्तत्त्व किया है, उसका कारण यह है कि "वयः" शब्द का धातुमूलक अर्थ "उत्पन्न पदार्थ" भी होता है—"वयः" शब्द "वी प्रजनन-कान्तिगतिषु" धातु से बनता है। सबसे बड़ा प्रजनन=उत्पन्न पदार्थ महत्तत्त्व के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। अश्व पद का यह अर्थ प्रसिद्ध पदसंनिधान से किया गया है। जैसे साहित्य वाले उदाहरण दिया करते हैं "प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति" इस वाक्य में 'मधुकरः' को छोड़ कर शेष सारे पदों का अर्थ ज्ञात है, उनकी संनिधि के बल से "मधुकरः" का अर्थ भ्रमर=भौंरा किया जाता है, उससे वाक्यार्थ हो जाता है—खिले कमल में भ्रमर शहद पीता है। इसी प्रकार यहां भी 'अश्व आसीद् बृहद् वयः'=अश्व बड़ा उत्पन्न पदार्थ है, "बृहद् वय" का अर्थ "बड़ा उत्पन्न पदार्थ" हमें ज्ञात है। शास्त्रबल से यह भी हमें मालूम है, कि सब उत्पन्न पदार्थों में महत्तत्त्व सबसे बड़ा है, इस वास्ते "अश्व' का अर्थ महत्तत्त्व ठीक और युक्तियुक्त है। "घोड़ा" अर्थ मानने से वेदवाक्य निरर्थक सा हो जाता, किन्तु वेद में तो एक भी अक्षर निरर्थक नहीं है। कणाद ऋषि ने कहा भी है—
"बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' वेद की वाक्य रचना बुद्धि पूर्वक है।

अब तीसरे प्रश्नोत्तर पर विचार कीजिए—

जब प्रकृति में संघर्ष होता है, तो उसमें कुछ शिथिलता सी आ जाती है, उस अवस्था को पिलिप्पिला कहते हैं। "अवि" प्रकृति का नाम है। अथर्व वेद में भगवान् नें उपदेश किया है:—

अविर्वै नाम देवतऋतेनास्ते परीवृता।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः ।। अथर्व १०।८।३१

"अवि" नामक देवता ऋत=सृष्टिनियम से, अथवा सत्यस्वरूप परमात्मा से परिवृत है, ढका है, यह वृक्ष=नाशवान् पदार्थ उसीके रूप से हरे भरे हैं। [इस मन्त्र का विशेष अर्थ हमारे लिखे "वैदिक धर्म्म" के "प्रकृति" प्रकरण में देखिए] प्रकृति से ही सारे पदार्थ बनते हैं। इस वास्ते उनका नाम "अवि" है।

अन्तिम प्रश्नोत्तर— रात्रि जिस प्रकार पिशंगिला=रूपों को निगलने वाली होती है। इसी प्रकार प्रलय में भी सब नाम रूप लुप्त हो जाते हैं। इस वास्ते प्रलय को सब अवयवों के भीतर करने वाली कहा। "प्रलय" अर्थ में "रात्रि" शब्द का प्रयोग बहुधा होता है। पिशंगिला का अर्थ "पिश=अवयव ["पिश अवयवे" से बनता है] को निगलने वाला" ऋषि के प्रमाण से किया गया है।

प्र—काऽईमरे पिशङ्गिला काऽईं कुरुपिशङ्गिला।
कऽईमास्कन्दमर्षति कऽईं पन्थां वि सर्पति ।। ११ ।।
उ— अजारे पिशङ्गिला श्वावित्कुरुपिशङ्गिला।
शश आस्कन्दमर्षत्यहिः पन्थां वि सर्पति ।।१२।।

प्रश्न—(ईं) और (पिशंगिला) पिशंगिला (का) क्या है? (अरे) रे! (ईं) और (कुरुपिशंगिला) कुरुपिशंगिला (का) क्या है (ईम्) और (कः) कौन (आस्कन्दं) आस्कन्द को, अथवा उच्छल उच्छल कर (अर्षति) प्राप्त होता है, वा चलता है? (कः) कौन (ईम्) पुनः पुन., बार बार (पन्थां) मार्ग पर (वि) अनेक प्रकार से (सर्पति) चलता है।

उत्तर—(अरे) अरे (पिशंगिला) पिशंगिला (अजा) अजा= जन्मरहिता है (कुरुपिशंगिला) कुरुपिशंगिला (श्वावित्) श्वावित् है (शश) शश (आस्कन्दं) आस्कन्दको, या उच्छल उच्छल कर (अर्षति) प्राप्त होता है, या चलता है। यहां भी चार प्रश्न हैं, और पूर्वोक्त प्रश्नोत्तरों से संवद्ध हैं।

पिछले मन्त्र में 'पिशंगिला' का अर्थ प्रलय किया गया है, यहां "प्रकृतिः" है, "पिशं अवयवादिकं गिलति निगिरति सा प्रकृतिः' जो अवयवादि को उगले या निगले, वह प्रकृति है, क्योंकि सृष्टिकाल में प्रकृति रूपों को=अवयवोंको, कार्य्य पदार्थ को उगलती है, और प्रलयकाल में निगल जाती है। कोई कार्य्य-पदार्थों की भांति प्रकृति को भी कार्य्यरूप न समझ लें, इस वास्ते भगवान् ने पिशंगिला को 'अजा' न जन्मनेवाली अनादि कहा।

यह सारा संसार प्रकृति के अवयवों से पूर्ण है, श्वेताश्वतरोंपनिषत् में कहा है—

मायां तु प्रकृतिं विद्धि मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्या अवयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥४।१०॥

प्रकृति को माया समझो, और परमेश्वर को मायी जानो। उस माया=प्रकृतिके अवयवों से यह सारा विश्व व्याप्त है। सूर्य्य, चन्द्र, पृथिवी आदि सब प्रकृति के अवयवभूत ही तो हैं।

इसके वाद स्वाभाविक प्रश्न होता है; प्रकृति की यह सृष्टि किस लिए है, वेदने इस प्रश्न को 'ईं कुरुपिशंगिला' [कुरुपिशंगिला कौन है, किंप्रयोजना है] इन शब्दों में कहा है।

भगवान् नें स्वयं उत्तर दिया है—'श्वावित् कुरुपिशंगिला'। कुरुपिशंगिला=कार्य्य पिशंगिला=कार्य्यप्रकृति=विकृति=सृष्टि यह सब पर्य्याय शब्द हैं। 'श्वावित्' शब्द का अर्थ है। 'श्वा' प्राप्त करनें योग्य, विचारनें योग्य, जानने योग्य। अब 'श्वा' शब्द का अर्थ क्या है, यह जानना चाहिए। सर्वसाधारण 'श्वा' शब्द का अर्थ कुत्ता

समझते हैं। किन्तु वेद में इन्द्र को श्वा कहा गया है, जैसे—

'शुनं' हुवेम मघवानमिन्द्रम्' ऋ० ३।३०।२२।।

"श्वा" मघवा = इन्द्र को हम बुलाते हैं।

इन्द्र को मघवा = ऐश्वर्य्यवान् कहा है, जो इन्द्र ऐश्वर्य्यवान् है, वह भला दरिद्र कुत्ता क्योंकर हो सकता है। अतः 'श्वा' का यौगिक अर्थ लेना चाहिए, 'श्वा' शब्द 'टुओ-श्वि' गतिवृद्ध्योः' से बनता है, गतिमान् = ज्ञानवान, गमनवान्, प्राप्तिमान्, जो वृद्ध हो, अथवा बढ़ सकता हो, उसे 'श्वा' कहते हैं। इस दृष्टि से 'श्वा' शब्द का अर्थ जीव और परमात्मा दोनों हो सकते हैं, और यह 'इन्द्र' का विशेषण भी इसी अर्थ में संगत हो सकता है।

तब 'श्वावित्' शब्द का अर्थ हुआ इन्द्र को प्राप्त होने वाली इत्यादि। प्रकृति 'इन्द्र' = जीवात्मा को प्राप्त होती है, जब जीवात्मा को प्रकृति प्राप्त होती है, तब यह पिशंगिला के रूपमें नहीं रहती, अपितु कुरुपिशंगिला = कार्य्यप्रकृति = सृष्टि का रूप धारण कर लेती है। इस को प्राप्त कर जीव नाना प्रकार के भोग भोगता है, इसे जान कर जीव मोक्ष लाभ करता है, योगदर्शन की परिभाषा में 'कुरु पिशंगिला' को 'दृश्य' कहा जाता है, उसका प्रयोजन भोग और मोक्ष बतलाया है—

'प्रकाशक्रियास्थितिशीलं
भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' यो० २।।१८।।

दृश्य = कुरुपिशंगिला का स्वभाव प्रकाश, क्रिया और स्थिति है, स्वरूप इसका पंचभूत और इन्द्रियें हैं। प्रयोजन भोग और मोक्ष है।

कौन मोक्ष लाभ करता है, और कौन भोग भोगता है; इसका उत्तर तीसरे और चौथे प्रश्नोत्तर में है—'शशः' आस्कन्दमर्षति' 'शश' = ज्ञानी आस्कन्द = सब ओर से स्कन्दन करने योग्य = प्राप्त-करने योग्य अवस्था को प्राप्त करता है, अथवा शश = ज्ञानी उछल कर कूद कर अर्थात् इस संसार से परे हटकर चलता है। तात्पर्य्य यह, कि वह संसार के विषयभोगों से परे हटकर ब्रह्ममार्ग में चलता है।

यह संसार मार्ग=पन्था नाम से कहा गया है। जो मनुष्य अहि=कुटिल स्वभाव का होता है, वह इस संसार मार्ग में=आवागमन में नाना प्रकार की गतियां चलता रहता है। जो संसार के विषय भोग में फंस जाता है, जो ऋजुस्वभाव को छोड़ देता है। कुटिलता धारण करता है। वह वेद की परिभाषा में अहि=कुटिल स्वभाव वाला, सांपसा मनुष्य होता है, वह नानामार्गों से चलता है। नाना योनियां ही यहां नाना मार्ग हैं। जिसने इस प्रकृति और विकृति के स्वरूप को नहीं जाना, और न जान कर इनमें फंस जाता है वह बेचारा विषय वासनाओं से बंधा हुआ जन्म मरण के चक्कर में फंसा रहता है।

इन चारों प्रश्नों में प्रकृति का स्वरूप, विकृति का प्रयोजन, मुक्ति का अधिकारी, और संसारी जीवों का स्वरूप बताया है।

भगवान् अपने जीवों के कल्याण के लिए नाना प्रकार से उपदेश करते हैं, जो भाग्यवान् होता है, इस से लाभ उठा लेता है।

श्वेताश्वतरोपनिषत् में इस तत्त्व को इस प्रकार निरूपण किया है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाःसृजमानां सरूपाः। अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ४।५॥

एक अज=जीव एक अजा=अनादि प्रकृति का—जो अनेक प्रकार की सत्त्वरजस्तमोमयी सरूप प्रजाओं का सर्जन कर रही हैं—सेवन करता हुआ उसमें अनुशयन करता है, और दूसरा इसके भोग भोग कर इसके स्वरूप को जान कर इसका त्याग कर देता है।

वेद मन्त्रों के गम्भीर आशय ऋषि लोग अपने तप और योगजन्य अन्तर्दृष्टि से अनुभव कर यथासाध्य सरल शब्दों में वर्णन करते हैं। श्वेताश्वतर ऋषि का उक्त वचन इस का एक उदाहरण है।

प्र—कत्यस्य विष्ठाः कत्यक्षराणि कति होमासः कतिधा समिद्धः।
यज्ञस्य त्वा विदथा पृच्छमत्र कति होतार ऋतुशो यजन्ति॥

उ—षडस्य विष्ठाः शतमक्षराण्यशीतिर्होमाः समिधो ह तिस्रः।
यज्ञस्य ते विदथा प्रब्रवीमि सप्तहोतार ऋतुशो यजन्ति।।
१३। १४।।

प्रश्न—(यज्ञस्य) यज्ञ का (विद्था) ज्ञानरहस्य (त्वा) तुझ से (पृच्छम) पूछता हूं—(अस्य) इस यज्ञ के (विष्ठाः) आश्रय (कति) कितने हैं? (कति) कितने (अक्षराणि) अक्षर हैं? (कति) कितने (होमासः) होम हैं, और यह (कतिधा) कितने प्रकार से (समिद्धः) प्रकाशित किया जाता है, अर्थात् इसमें कितनी समिधाएं हैं, और (कति) कितने (होतारः) होता (ऋतुशः) ऋतु ऋतु में अथवा नियमानुसार (यजन्ति) यज्ञ कहते हैं।

उत्तर—(ते) तुझे (यज्ञस्य+विदथा+प्र+ब्रवीमि) यज्ञ का ज्ञानरहस्य भली प्रकार कहता हूं—(अस्य) इसके (षट्) छह (विष्ठाः) आश्रय हैं, (शतं+अक्षराणि) सौ अक्षर है, (अशोतिः+होमाः) अशीति=अस्सी होम हैं, और (तिस्रः) तीन (ह) ही (समिधः) समिधाएं हैं और सात होता=ऋत्विक् (ऋतुशः) ऋत्वनुकूल=नियमानुसार यज्ञ करते हैं।

यह प्रश्नोत्तर अत्यन्त अस्पष्ट है, किसी भाष्य, टीका आदि से इस के रहस्योद्घाटन में सहायता नहीं मिल सकती। तो अभी जो कुछ समझ में आया है, निवेदन करते हैं। चिरकाल से पठन-पाठन छूट जानेसे आज वेद के अनेक शब्द दुरूह तथा दुर्बोध प्रतीत हो रहे हैं, किन्तु यदि इनका पठन-पाठन भी पूर्ववत् प्रचलित हो जाए, तो यह रहस्य एक दिन जीवन की एक साधारण प्रवृत्ति बन जाएं। अस्तु।

इस शरीरयज्ञ के छह आधार हैं, पांच महाभूत और छठा आत्मा। सौ अक्षर हैं। अक्षर का अर्थ व्याप्ति, अथवा भोग का समय है। मनुष्य की साधारण आयु सौ वर्ष है। अशीति=अस्सी होम हैं साधारणतः २०-२५ वर्ष तक पराश्रित होता है, दूसरों से सहायता लेता है, आगे चल कर निकृष्ट ब्रह्मचर्य्य के अन्तिम ४-५ वर्ष में वह दूसरों

की सेवा के योग्य हो जाता है, और गृहस्थ, वानप्रस्थ, तथा संन्यस्त दशा में तो वह किसी न किजी रूप में अवश्य ही होम=त्याग का जीवन विताता है। बाल्य, तारुण्य, और वार्द्धक्य ये तीन समिधाएं हैं। सात होता=सात प्राण सदा नियमानुसार कार्य्य करते रहते हैं, जब और सब इन्द्रियादिक थक कर कार्य्य छोड़ देते हैं, ये प्राण बराबर जागृत रहते हैं। अथवा सात होता=पांच ज्ञानेन्द्रिय एक मन, तथा सातवां जीवात्मा यह नियमानुसार यजन कहते रहते हैं।

प्रकारान्तर से इस संसार रूपी यज्ञ के ६ आश्रय हैं, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश तथा आत्मा। आत्मा के स्थान में देश का भी ग्रहण हो सकता। शतं=सौ=अनन्त, अक्षराणि=भोगसाधन ('अश' भोजने से) हैं। इनका भोक्ता जीव है, अथवा शतं=सौ, अक्षराणि-भोग साधन काल, जीव को मानव शरीर में सामान्यतः सौ वर्ष रहना होता है। सृष्टि का समय भी सौ वर्ष है। दशों दिशाओं में फैली प्रकृति तथा सात प्रकृति विकृति* महत्तत्व अहंकार और पांचतन्मात्राएं ही अस्सी होम=भोग साधन है। सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन इस संसारयज्ञ की समिधाएं हैं, अर्थात् इन्हीं से यह संसारयज्ञ प्रकाशित होता है। अथवा ब्रह्म, जीव तथा प्रकृति से यह यज्ञ प्रकाशित होता है। सूर्य्य की सात किरणें सात होता हैं। जो लगातार यजन कर रही हैं।

प्र—कोऽस्य भुवनस्य वेद नाभिं को द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्।
कः सूर्य्यस्य वेद बृहतो जनित्रं को वेद चन्द्रमसं यतोजाः ॥१५॥

उ—वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिं वेद द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्।

---

* इन सात को प्रकृतिविकृति इस वास्ते कहा है, कि ये किसी का कारण भी हैं और किसी का कार्य्य भी। जैसे महत्तत्त्व प्रकृति का कार्य्य और अहंकार का कारण है। अहंकार महत्तत्त्व का विकार और पंचतन्मात्रों की प्रकृति है और पंचतन्मात्र अहंकार की विकृति और पांच महाभूतों की प्रकृति हैं। यह सांख्यदर्शन की प्रक्रिया है।

वेद सूर्य्यस्य बृहतो जनित्रमथो वेद चन्द्रमसं यतोजाः ॥१६॥

प्रश्न—(ग्रस्य) इस (भुवनस्य) भुवन की (नाभिं) नाभि को (कः) कौन (वेद) जानता है ? (द्यावापृथिवी) द्यौलोक, ग्रौर पृथिवी लोक को तथा (ग्रन्तरिक्षं) ग्रन्तरिक्षलोक को (कः) कौन जानता है ? (बृहतः) महान् (सूर्य्यस्य) सूर्य्य के (जनित्रं) उत्पत्ति, उत्पत्ति के कारण को (कः) कौन (वेद) जानता है। (चन्द्रमसं) चन्द्रमा को (कः) कौन (वेद) जानता है, (यतोजाः) जहां से यह उत्पन्न होता है।

उत्तर—(ग्रहं) मैं (ग्रस्य) इस (भुवनस्य) भुवन=जगत् की (नाभिं) नाभि =वन्धनस्थान=कारण को (वेद) जानता हूं। (द्यावा पृथिवी) द्यौलोक=प्रकाशलोक ग्रौर पृथिवीलोक=ग्रप्रकाश लोक ग्रौर (ग्रन्तरिक्षं) मध्यवर्ती ग्रन्तरिक्ष लोक को (वेद) जानता हूं। (बृहतः) महान् (सूर्य्यस्य) सूर्य्य के (जनित्रं) उत्पत्ति के कारण को (वेद) जानता हूं (ग्रथो) ग्रौर (चन्द्रमसः) चन्द्रमा के विषय में भी (वेद) जानता हूं, (यतोजाः) जहां से यह पैदा होता है॥

यहां वड़े बड़े लोकलोकान्तरों के कारणों को पूछा है। नाभि, जनित्र ग्रौर यतोजाः शब्द एक ग्रर्थ के सूचक है। यह जगत् निराधार खड़ा दीखता है, तो किसके सहारे खड़ा है, पृथिवी ग्रादि सारे लोक गति कर रहे हैं, गिर क्यों नहीं पड़ते ? सूर्य्य तो वहुत बड़ा है, इतने बड़े की उत्पत्ति किस ने की ग्रौर किस वस्तु से की ? चन्द्रमा कहां से उत्पन्न हुग्रा ? ये प्रश्न बड़े गम्भीर हैं। साधारण मनुष्य इन्हें कैसे जान सकता है ? इसी वास्ते कहा—इन बातों को कौन जानता है।

उत्तर मिलता है—मैं इन्हें जानता हूं। सर्वज्ञाननिधान भगवान् या भगवान् का प्रीतिमान् कोई महान् विद्वान् ही इसे जान सकता है। उत्तर में 'मैं जानता हूं।' इतना ही कहा है। इसमें एक रहस्य है, इस उपनिषत् में सृष्टि के निमित्तकारण तथा उपादानकारण का

निर्देश पहले कर आए हैं। फिर इनका उल्लेख ब्रह्मज्ञानी की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए है। इस सारी सृष्टि का रचनेवाला परमेश्वर इस सृष्टि के उपादानकारण का भी अधिष्ठाता है। जो उस ब्रह्म को जान लेता है, वह इस सारे संसार के पदार्थों के कारणों को जान लेता है।

प्र०—पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः। पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥१७॥

उ०—इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः। अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥१८॥

प्रश्न—मैं (त्वा) तुझसे (पृथिव्याः) पृथिवी का (परम्) बड़ा, परला (अन्तं) अन्त (पृच्छामि) पूछता हूं और तुझसे वह (पृच्छामि) पूछता हूं (यत्र) जहां (भुवनस्य) भुवन की (नाभिः) नाभि है (त्वा) तुझसे (वृष्णः) वृषा, सेचन समर्थ (अश्वस्य) अश्व के (रेतः) रेत को (पृच्छामि) पूछता हूं और (वाचः) वाणी के (परमं) परम (व्योम) व्योम को (पृच्छामि) पूछता हूं।

उत्तर—(इयं) यह (वेदिः) वेदि (पृथिव्याः) पृथिवी का (परः) बड़ा (अन्तः) अन्त है। (अयं) यह सर्व लोक प्रसिद्ध (यज्ञः) पूजनीय परमेश्वर (भुवनस्य) संसार का (नाभिः) नाभि है। (अयं) यह (सोमः) सोम (वृष्णः) वृषा=सेचन समर्थ (अश्वस्य) अश्व का (रेतः) रेत=वीर्य्य=शक्ति है। (अयं) यह (ब्रह्मा) ब्रह्मा=चतुर्वेदवित्, अथवा सकल विद्याप्रकाशक (वाचः) वाणी का (परमं) सर्वोत्कृष्ट (व्योम) आकाश=स्थान है।

पृथिवी कहां समाप्त होती है ? संसार की नाभि क्या है ? वृषा अश्व का वीर्य्य क्या है ? वाणी का परम स्थान कौन-सा है ? पहले मन्त्र में यह चार प्रश्न हैं, अगले में उत्तर हैं। पृथिवी का पर अन्त

क्या है ? उत्तर है, यह वेदि पृथिवी का पर—अन्त है । यज्ञ पक्ष में सचमुच वेदि ही पृथिवी का अन्त है । वेद यज्ञ का आधार है, विना वेद के यज्ञ हो नहीं सकता, अतः यज्ञ का पूर्णरूप इस पृथिवी का अन्त है । योगोपनिषत् की व्याख्या में पृथिवी का अर्थ हमने ब्राह्मण के प्रमाण से "शरीर" किया है । वेदि=यज्ञवेदि=परोपकार ही शरीर का सबसे बड़ा अन्त है । स्वामी श्रीदयानन्दसरस्वती जी वेदि का एक अर्थ मध्यरेखा लिखते हैं । सचमुच इस गोल पृथिवी का परम अन्त भूमध्यरेखा है, वहां भूमि की आकर्षणादि शक्तियों की चरम सीमा है ।

अब दूसरे प्रश्न पर विचार कीजिए—

सब प्रकार के लोकोपयोगी कार्य्यों को यज्ञ कहते हैं । इस संसार का बन्धन यज्ञ=परोपकार=पारस्परिक सहायता है । यदि प्रत्येक पदार्थ निरपेक्ष होकर अपनी सत्ता स्थिर रखना चाहे, तो असम्भव है, क्योंकि सृष्टि के पदार्थ तो बनते ही यज्ञ=संगति के कारण से हैं, अतः यज्ञ को संसार का नाभि=बन्धन हेतु कहना सर्वथा संगत है । यजुर्वेद ३१।७ "तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः" [इसकी व्याख्या ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका के सृष्टिविद्याप्रकरण में देखिए] के प्रमाण से यज्ञ का अर्थ परमेश्वर भी होता है । जो सबका पूजनीय हो, सबको यथा-योग्य देता हो, सब पदार्थों की यथायोग्य संगति-सम्मेलन करता हो, वह यज्ञ है । परमेश्वर से बढ़कर और किसमें यह गुण हो सकते हैं । परमेश्वर में ये गुण चरम सीमा तक पहुंचे हुए हैं, इस वास्ते वही इस ब्रह्मांड का बन्धन=नियमन करता है । इसको ठीक व्यवस्था से चलाता है ।

वैदिक साहित्य में यज्ञ की महिमा बहुत विस्तार से कही गई है । केवल अग्निहोत्रादि का नाम ही यज्ञ नहीं । यह बहुत व्यापक पदार्थ है । पाठकों की ज्ञान वृद्धि के लिए यहां यज्ञ के सम्बन्ध में शतपथ ब्राह्मण १३ कांड । ३ अ० । ७ ब्राह्मण अविकल उद्धृत करते हैं ।

एष वै प्रभूर्नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव प्रभूतं

भवति ॥१॥ एष वै विभूर्नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव विभूतं भवति ॥२॥ एष वै व्यष्टिर्नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव व्यष्टं भवति ॥३॥ एष वै विधृतिर्नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव विधृतं भवति ॥४॥ एष वै व्यावृत्तिर्नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव व्यावृत्तं भवति ॥५॥ एष वा ऊर्जस्वान्नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते, सर्वमेवोर्जस्वद्भवति ॥६॥ एष वै पयस्वान्नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव पयस्वद्भवति ॥७॥ एष वै ब्रह्मवर्चसी यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते, आ ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायते ॥८॥ एष वा अति-व्याधी नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते, आ राजन्यो अति-व्याधी जायते ॥९॥ एष दीर्घो नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते, आ दीर्घारण्यं जायते ॥१०॥ एष वै क्लृप्तिर्नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव क्लृप्तं भवति ॥११॥ एष वै प्रतिष्ठा नाम यज्ञः। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते सर्वमेव प्रतिष्ठितं भवति ॥१२॥

श. १४।३।२।१ में लिखा है।

सर्वेषां वा एष भूतानां सर्वेषां देवानामात्मा यद्यज्ञः, तस्य समृद्धिमनु यजमानः प्रजया पशुभिर्ऋध्यते। वि वा एष प्रजया पशुभिर्ऋध्यते। यस्य घर्म्मो विदीर्यते ॥

भावार्थ—निश्चय करके इस यज्ञ का नाम प्रभू है। जहां यह यज्ञ किया जाता है वहां सब वस्तुओं की बहुतायत हो जाती है। निश्चय करके इस यज्ञ को विभू कहते हैं। जहां इस यज्ञ का अनुष्ठान होता है, वहां सब कुछ विभूतियुक्त हो जाता है। निस्सन्देह यह यज्ञ व्यष्टि है। जहां इसका यजन होता है, वहां सबही व्यष्ट=संक्षेप में सब कुछ
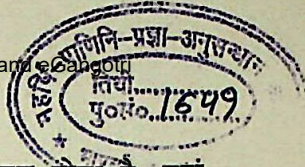
होता है। यही यज्ञ विधृति नामक है। जहां यह यज्ञ होता है, वहां सभी का विशेष धारण होता है। यह यज्ञ सचमुच व्यावृत्ति नामक है। जहां यह यज्ञ किया जाता है, वहां सभी व्यावृत्त = एक दूसरे से विशेषता वाला होता है। यह यज्ञ अवश्य ही ऊर्जस्वान् नाम वाला है। जहां यह अनुष्ठित होता है, वहां सभी कुछ वलयुक्त और प्राणमय हो जाता है। यह यज्ञ पयस्वान् नाम वाला है। जहां इसका अनुष्ठान होता है, वहां सभी कुछ पयोयुक्त हो जाता है। इस यज्ञ को ब्रह्मवर्चसी कहते हैं जहां इस यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं, वहां ब्रह्मवर्चसी ब्राह्मण पैदा होते हैं। निश्चय करके यह यज्ञ 'अतिव्याधी' नामक है। जहां इसका अनुष्ठान होता है; वहां निर्भय, अकम्प क्षत्रिय उत्पन्न होते हैं। यह यज्ञ 'दीर्घ' कहलाता है, जहां यह यज्ञ किया जाता है वहां दीर्घारण्य होता है। यह यज्ञ 'क्लृप्ति' नाम वाला है। जहां इसका यजन किया जाता है, वहां सब कुछ क्लृप्त=समर्थ हो जाता है। निश्चय करके यह यज्ञ 'प्रतिष्ठा' है। जहां इस यज्ञ का यजन करते हैं, वहाँ सभी कुछ प्रतिष्ठित होता है।

यह यज्ञ सब भूतों तथा सब देवों का आत्मा है। इस यज्ञ की समृद्धि से यजमान की प्रजा और पशुओं के द्वारा समृद्धि होतो है। यज्ञ की हानि से यजमान की प्रजा और पशुओं से हानि होती है।

यज्ञ की इस व्याख्या पर तनिक सा ध्यान देने से ऐसा प्रतीत होता है, कि प्रत्येक शुभकार्य्य यज्ञ के अन्तर्गत है। इस वास्ते शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' कहा है। श्रेष्ठतम, उत्तम से उत्तम कर्म ही इस संसार के बन्धन=स्थिति का हेतु है।

तीसरा प्रश्न लीजिए—अश्व का अर्थ यहां ज्ञानी है, जो सकल-विद्याओं में अपनी गति रखता है, उसे अश्व कहते हैं। ऐसे विद्या-पारंगत ज्ञानियों के भी दो भेद होते हैं। एक वे जिनकी विद्या उनके अपने लिए होती है अर्थात् या तो उनमें प्राप्त ज्ञान को प्रकट करने की शक्ति ही नहीं होती, या वे किसी कारण से उसे प्रकट नहीं करते। दूसरे वे होते हैं, जिनका यह विचार होता है, कि उत्तम रत्नों से

भी अधिक मूल्यवान् पदार्थों का स्वाद दूसरों को भी चखाएं, ऐसों को वेद ने 'वृषा अश्व' कहा है, अर्थात् सेचने की ताकत वाला अश्व = ज्ञानी। एक स्थान के जलको दूसरे स्थान में डालने को सेचना कहते हैं। जो अपनी विद्या को अपने अन्दर से निकाल कर उसे दूसरे के अन्तःकरण में संक्रान्त कर सके, उसे 'वृषा अश्व' कहते हैं। ऐसे महापुरुष की शक्ति 'सोम' होती है। सोम का तात्पर्य्य यहां शुद्ध, शान्तिदायक विवेक, ज्ञान, सत्य तथा परमात्मा है। वे विमल धवल विवेक प्राप्त कर सत्य तथा सत्यस्वरूप परमात्मा में निष्ठा रख कर अपना सारा व्यवहार चलाते हैं, इसके बल के आधार से वे दूसरों को भी सुमार्ग पर चलाने में समर्थ होते हैं। याज्ञवल्क्य वशिष्ठ, कृष्ण, दयानन्द आदि महात्मा इसी कोटि के महापुरुष हैं।

चौथा प्रश्नोत्तर है—

'ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम।'

वाणीकी सफलता ज्ञानार्जन और ज्ञानवितरण—विद्या प्राप्त करने और विद्या दान करने में है। व्यर्थ तथा बेहूदा बकवास में वाणी की शक्ति नाश होती है। इसी वास्ते भगवान् ने उपदेश किया, कि वाणी का परम स्थान ब्रह्मा है। चारों वेदों के ज्ञानी को ब्रह्मा कहते हैं। सारी वाणियों का सार, सब वाणियों से उत्तम वेदवाणी है। उसका आश्रय प्राणियों में ब्रह्म ही होता है। मनुष्य को वाणी प्रभु से मिलती है, ज्ञान भी परमात्मा से ही मिलता है, परमात्मा के दिए ज्ञान का अध्ययन और मनन करने से ही मनुष्य ब्रह्मा बनता है, अतः वाणी का सबसे उत्तम और बड़ा स्थान स्वयं 'ब्रह्म' है।

वाणी से हम दूसरों को प्रेरणा करते हैं। भगवान् भी अपनी कल्याणी वाणी के द्वारा हमें सदा कल्याण मार्ग की ओर प्रेरणा करते हैं, पाप से हटाते रहते हैं। पापादि करते समय जो भय, लज्जा, शंका होती है, और धर्म्म करते समय जो उत्साह होता है, उस सब का प्रेरक परमात्मा ही है, ऐसा सब ऋषि मुनि कहते हैं।
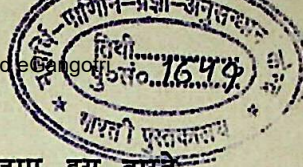
वाणी निराश्रय न हो जाए या अपाश्रय न हो जाए, इस वास्ते मनुष्य को चाहिए कि वह सत्यविद्या का अभ्यास करके उस विद्या के प्रचार तथा प्रसार में सदा यत्न करे। तब वाणी को आश्रय मिल जाएगा, और वह संसार के कल्याण का सब से बड़ा आश्रय सिद्ध होगी।

सुभूः स्वयंभूः प्रथमोऽन्तर्महत्यर्णवे ।
दधे ह गर्भमृत्वियं यतो जातः प्रजापतिः ॥१६॥

(सुभूः) भली प्रकार से रहने वाला, सर्वोत्तम सत्ता वाला (स्वयंभूः) अपने आप होने वाला, अर्थात् अपनी सत्ता में किसी दूसरे की सहायता की अपेक्षा न करने वाला, अकार्य्यरूप अतएव (प्रथमः) सब से मुख्य, व्यापक भगवान् (महति) महान् (संसारे+अन्तः) सागर के तुल्य संसार में (यतः) चूंकि (ऋत्वियं) ऋत्वनुकूल, समयानुसार, ठीक ठीक (गर्भं) गर्भ को, (दधे) धारण करता है, अत एव (प्रजापतिः) प्रजापति=प्रजा का पालक, प्रजा का स्वामी (जातः) होता है।

पूर्व के मन्त्रों में प्रायः भगवान् का वर्णन ऐसा आया है जिनमें भगवान् का सृष्टि से सम्बन्ध बतलाया है, कहीं स्पष्ट और कहीं इशारे से भगवान् को प्रजा का उत्पादक, प्रजा का पालक बतलाया है। कहीं लोगों को भ्रम न हो जाय, कि भगवान् भी इस संसार की भांति विकारी है, इस वास्ते मन्त्र के आरम्भ में भगवान् को "सुभू" कहा है। भगवान् की सत्ता सदा उत्तम ही रहती है, उसमें कभी विकार नहीं आता। इतना ही नहीं, वह "स्वयंभू" भी है; अर्थात् जिस प्रकार संसार, तथा संसारी वस्तुओं को अपनी स्थिति के लिए आश्रय की आवश्यकता होती है, भगवान् को वैसी नहीं। भगवान् तो स्वयं होते हैं। इस सृष्टि से भी पूर्व भगवान् बने रहते हैं, और फिर इन सब में व्यापक भी रहते हैं, इस वास्ते वह "प्रथम" हैं। मानों इस प्रथम शब्द की ही व्याख्या ऐतरेय ऋषि ने 'तत्सृष्ट्वा

तदेवानुप्राविशत्" [इस सृष्टि की रचना करके स्वयं भी उसमें प्रविष्ट है] इन शब्दों से की है। चूंकि वह प्रकृति में अपना सामर्थ्यबीज डालकर इसे गर्भ धारण कराता है, इस वास्ते वह प्रजापति है। यहां गर्भ का विशेषण "ऋत्वियं" पर ध्यान देने योग्य है। ऋत्वियं का अर्थ समयानुसार, जिसका समय आ गया हो। सृष्टि के बाद प्रलय होती है, प्रलय की समाप्ति पर जब पुनः सर्ग का समय आता है, तभी भगवान् सृष्टिरूप गर्भ धारण करते हैं, इसी प्रकार जब किसी या किन्हीं जीवों के कर्म्म फल देने को लगते हैं, तब भगवान् उसके अनुकूल गर्भ में भेजते हैं। मनुष्यों को यहां भगवान् स्पष्ट उपदेश कर रहे हैं कि तुम भी गर्भधारण में ऋतु का विचार कर लिया करो। प्रजापति कहकर भगवान् को अपना पालक रक्षक पिता बताया है। शासक की अपेक्षा पालक अधिक प्रिय होता है।

होता यक्षत्प्रजापतिꣳ सोमस्य महिम्नः।
जुषतां पिबतु सोमꣳ होतर्यज॥२०॥

(होता) होता (सोमस्य) ज्ञान और ऐश्वर्य्य की (महिम्नः) महिमा से (प्रजापतिं) प्रजापति भगवान् की (यक्षत्) पूजा करे (जुषतां) उसका प्रीतिपूर्वक सेवन करे और (सोमं) ज्ञान, ऐश्वर्य्य, शान्ति, सोमरसादि का (पिबतु) पान करे। हे (होतः) होतः=भगवद्भक्त! (यज) यजन कर।

अपनी पूजा की विधि भगवान् ने स्वयं बता दी है। भगवान् के अनन्त ऐश्वर्य्य, विपुलज्ञान, अखण्ड शक्ति का भक्त चिन्तन करे। जब कोई शिल्पी किसी वस्तु को बनाने लगता है, तो उसके निर्माण का ज्ञान पहले कर लेता है। सारे संसार, (जिसका आजतक कोई भी पार नहीं पा सका) को रचने वाला कितना वड़ा ज्ञानी है, इसकी कल्पना करते समय मस्तिष्क में भी चक्कर आने लगते हैं। इसी प्रकार उसके सामर्थ्य आदि के विषय में समझ लेना चाहिए। उसके इन गुणों का चिन्तन करके गुणों का सेवन करे, सेवन भी प्रेम से करे।
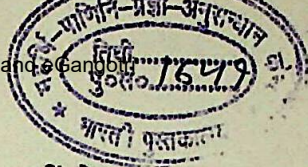
अनादर अनास्था से किया चिन्तन कुछ भी लाभ नहीं देता। जब उसके साथ प्रीति करोगे, तो उसके अनन्त ऐश्वर्य्य आदि का पान कर सकोगे। इस वास्ते अन्त में प्रेरणा की, कि हे होता! यजन कर। यजन का अर्थ वहुत विस्तृत है—संगति करण, देवपूजा, दान आदि सब भाव यजन के अन्दर आजाते हैं। भद्र पुरुष की संगति, पदार्थों का यथार्थ उपयोग, विद्या धनादि का दान, विद्वानों, सत्पुरुषों का सत्कार, ज्ञानादि के द्वारा भगवान् की अर्जना आदि सब भाव यज्ञ के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस वास्ते वेद में "आयुर्यज्ञेन कल्पतां"—इत्यादि कहा है। यज्ञ श्रेष्ठतम कर्म्म है, हमारा सब समय शुभ कर्म्मों में व्यतीत हो।

होता का अर्थ है—देने वाला, तथा लेने वाला। यज्ञ कराने वाले होता में भी यह दो गुण अवश्य होते हैं। केवल लेने वाले ही न बनो, अपितु देना भी सीखो, यह भाव होता शब्द के अन्दर है। जिस प्रकार तालाब आदि में जल आता और जाता रहने से जल में दोष नहीं आते, विमलता बनी रहती है। इसी प्रकार दान आदान दोनों धर्म्मों के कारण ममुष्य का जीवन पवित्र बना रहता है।

प्रार्थना

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽअस्तु वयंस्याम पतयो रयीणाम्२१।

हे (प्रजापते) प्रजापते! (त्वद्) तुझसे भिन्न (अन्यः) कोई दूसरा (एतानि) इन और (ता) उन (विश्वा) सब (रूपाणि) रूपों को (न) नहीं (परि+बभूव) पूरी तरह से वश करता। हमें (यत्कामाः) जिस अभिलाषा वाले हो (ते) तुझसे (जुहुमः) मांगें, (तत्) वह (नः) हमारी (अस्तु) होवे। (वयं) हम (रयीणां) ऐश्वर्य्यों के (पतयः) स्वामी, मालिक (स्याम) होवें।

किस प्रकार भगवान् की स्तुति आदि करनी चाहिए, उसका एक

नमूना यहां दे दिया है। इस सारे नामरूपात्मक जगत् को परमात्मा ही वश में रख सकता है और किसी में यह सामर्थ्य नहीं। यह सारा विश्व ब्रह्मांड उसी का है। अतः हमें जिस वस्तु की आवश्यकता हो, उसी से मांगें। यदि सच्चे हृदय से हम कोई वस्तु उससे मांगेंगे, तो वह अवश्य हमें मिलेगी। किन्तु मांगने से पूर्व उसका अधिकारी हम अपने आपको बनालें। जब हम भगवान् से ऐसा नेह नाता जोड़ लें, तो सब ऐश्वर्य-सांसारिक ऐश्वर्य्य और पारलौकिक ऐश्वर्य—मुक्ति तक हमें मिलेगा।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकेण वेदानन्देत्यन्वर्थापरा-
भिधानेन वे० शा० श्रीमद्दयानन्दतीर्थस्वामिना
विरचिता ब्रह्मोद्योपनिषद्व्याख्या
पूर्त्तिमगात्।
शुभं भूयात्।
॥ ओं · ब्रह्म ॥
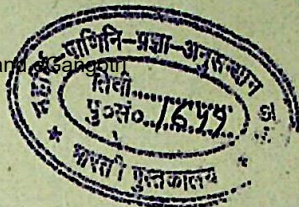
ब्रह्मसूत्र-विद्योदयभाष्य—

भाष्यकार : विद्याभास्कर, वेदरत्न श्री पं० उदयवीर शास्त्री, विद्यावाचस्पति। विद्वान् भाष्यकार ने इस भाष्य में, आचार्य शंकर द्वारा ब्रह्मसूत्रों में परमतप्रतिवादार्थ किए गए उलट-फेर से उत्पन्न हुई विवादपूर्ण समस्याओं से ऊपर उठकर, केवल शास्त्रारम्भ के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए, ब्रह्मसूत्रों के वास्तविक अर्थ को—जो सम्भवतः शंकर से प्रावतन वेदान्ताचार्यों को भी अभिमत था—उद्घाटित करने का साहसपूर्ण और सराहनीय प्रयत्न किया है।

बढ़िया जिल्द, मूल्य २०.०० रु०

वैशेषिकदर्शन-विद्योदयभाष्य—

भाष्यकार—विद्याभास्कर, श्री पं० उदयवीर शास्त्री, विद्यावाचस्पति। वैशेपिकदर्शन के इस विद्योदयभाप्य की विशेपया यह है, कि विद्वान् भाप्यकार ने मूलग्रन्थ को प्रारम्भिक पदार्थ विद्या का विवरणात्मक ग्रन्थ मान परम्परागत भाष्य-सरणि का सहारा न लेते हुए मूलसूत्रों में आए पदों को उनके संदर्भ-संगत अर्थों में जंचाकर दर्शनकार के वास्तविक अभिप्राय को विज्ञ पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करने का श्लाघ्य प्रयास किया है।

भाष्य के अन्त में दो महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट जोड़ दिये गये हैं। पहले परिशिष्ट में कतिपय उलझनपूर्ण सिद्धान्तों का विशद विवरण दिया गया है।

द्वितीय परिशिष्ट में आधुनिक पदार्थ विज्ञान [रसायन तथा भौतिकी शास्त्र] में स्वीकृत तत्त्वों का साधारण परिचय तथा अतिसंक्षेप से वैशेपिक-प्रतिपादित पदार्थों के साथ उनको सन्तुलित करने का प्रयास किया गया है।

ग्रन्थ···२३ × ३६।१६ आकार के लगभग पांच सौ पृष्ठों में पूरा हुआ है। कागज उत्तम छपाई स्वच्छ एवं सुन्दर, जिल्द सुदृढ़ आकर्पक है।

मूल्य १५) रु० मात्र

संस्थान के प्रमुख प्रक

सत्यार्थप्रकाश, स्थूलाक्षर (सटिप्प

महाविद्वान् स्वर्गीय स्वामी वेदानन्द तीर्थ लिखित दि
७०० पृष्ठों का २०×२६/४ आकार पर २० पाइन्ट टाइ
पद्धति से दो रंगों में छपा हुआ, अत्युत्तम, सुबद्ध, अति सुन्द
संस्करण की कुछ सौ प्रतियां शेष हैं।

प्रारम्भ में अनेक पाठों के विषय में सम्पादकीय विवरण, तथा सत्यार्थप्रकाश के कतिपय कठिन स्थलों का स्पष्टीकरण दे दिया गया है। अन्त में मूल सत्यार्थ-प्रकाश तथा टिप्पणी में आए समस्त प्रमाणों की सूची तथा विस्तृत विषय-सूची, आधुनिक रीति पर अकारादि क्रम से तैयार कर जोड़ दी गई है।

मूल्य १५) रु०

स्वाध्याय सन्दोह—

नित्य पाठ करने योग्य ३६७ विषयों के ३६७ वेदमंत्रों की—वेदमर्मज्ञ विद्वान् स्व० स्वामी वेदानन्द तीर्थ लिखित—सरल सुबोध भावपूर्ण व्याख्या सहित उत्तम प्रकाशन। धार्मिक प्रसंगों में प्रभावशाली एवं आकर्षक प्रवचन; तथा स्वयं अध्ययन में आध्यात्मिक उदात्त भावना जागृत करने में अत्युपयोगी। २०×३०/८ आकार के ६०० से अधिक पृष्ठों का ग्रन्थ। मूल्य १०) रु०

अध्यक्ष

विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद,

(मेरठ), उ० प्र०